॥ श्रीहरिः ॥

571

श्रीकृष्णालीलाका चिन्तन

विशिष्ट संस्करण

गीताप्रेस, गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

गुलहर्बास बहु खिले, मदन के मनहुँ खिलौना॥
सूरजमुखी, गुलाब, गुलाला, नाफर मानौ।
सोमजुही, सेवती, सरूँ लै बिच-बिच ठानौ॥
सुरतरु सम द्रुम-बेलि-जाति सब सुखकर श्रेनी।
चिंतामनि महि सकल बनी चिंतित फल देनी॥
द्रुम-बल्ली संकुलित सकल अस लगत सुभग तन।
मनु जड़ ह्वै निज तियहि सहित सेवत सब सुरगन॥
बौर-मंजरी, मूल-फूल, फल-दल-मनि-मोती।
ओत-प्रोत प्रतिबिंब परत अगनित छबि होती॥
फूल-फलन कें भार डार झुकि यौं छबि छाजैं।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकनि काजैं॥
मधु मकरंद-पराग लुब्ध अलि मुदित मत्त-मन।
बिरद पढ़त रितुराज नृपति के मनु बंदीजन॥
सुवा-सारिका, पढ़त कोकिलर कूक मचावत।
मनहुँ टेर दै पैथिक जनन कौं टेरि बुलावत॥
चातक, मोर, चकोर सोर चहुँ ओर निकाई।
रतिपति नृप के दूत देत जनु फिरत दुहाई॥
राजहंस-कलहंस-हंस यौं सब्द सुनावत।
मनहुँ सप्त सुर मधुर साज मिलि गंधब गावत॥
सुधा-सलिल सर भरे बिमल, कमलनि जुत अलिगन।
निगुन ब्रह्म जनु सगुन होइ सोहत मोहत मन॥
या बन की बानिक समान पावनहि निकाई।
जाकी छबि की छटा छलकि छबि सब बन छाई॥

यहाँ इस वृन्दावनके अधिवासी जीवोंके मनमें वैरकी वृत्ति कभी जागती ही नहीं। जो स्वभावसे ही वैरभावयुक्त हैं—मनुष्य-व्याघ्र, बिडाल-मूषक, सर्प-नकुल आदि परस्पर शत्रुभावपरायण प्राणिवर्ग हैं वे भी परस्पर स्नेहके सूत्रमें बँधे, निरन्तर मित्रभावका अवलम्बन करते हुए यहाँ निवास करते हैं। यह अजित—श्रीकृष्णचन्द्रकी आवासभूमि जो ठहरी। इसीलिये उन महामहिमकी संनिधिके प्रभावसे इस काननमें, काननके आश्रित चराचर समुदायमें मलिन विकृतिकी सम्भावना नहीं। व्रजराजनन्दनकी इस लीलाभूमिमें क्षुधा-पिपासा प्राणोंको चञ्चल नहीं करती, काम मनका मन्थन नहीं करता, क्रोध इन्द्रियोंको जलाने नहीं आता, लोभ सम्मोहका सृजन नहीं करता—एक भी अशुभ विकृति इस श्रीकृष्णक्रीडास्थलीमें प्रवेश ही नहीं कर सकती, नहीं करती। इनकी यहाँ गन्धमात्र भी नहीं—

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः।
मित्राणीवाजिताबासद्भुतरुट्तर्षकादिकम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ६०)

जहँ निसर्ग तें जीव सब बैर भाव बिसराइ।
बसहिं जहाँ सुख सौं सदा, प्रीति अधिक अधिकाइ॥
केहरि-करी, कलापी-ब्यालू।
मूषक, मृगसावक अरु भालू॥
फिरहिं एक सँग भय बिसराई।
नहिं जिन कें हिय बैर-बुराई॥
कृष्नदेव-क्रीडा-थल पावन।
क्रोध-लोभ-मद-गर्व नसावन॥
छुधा-तृषा बाधै नहिं ताही।
बसैं बिपिन जे नित चित चाही॥

इस प्रकार परम रमणीय वृन्दारण्यके पावन दर्शनसे स्रष्टा पूर्णतया प्रकृतिस्थ हो गये। उस कमनीय शोभाका स्पर्श पाकर उनकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हो उठीं। उन्होंने जिस ओर दृष्टिपात किया, उधर ही अनुभव हुआ—वनके कण-कणमें केवल निराविल परमानन्द बिखर रहा है, निर्मलतम प्रेमके निर्झर झर रहे हैं, सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वासकी उन्मत्त पयस्विनी प्रसरित हो रही है। इस अमित माधुर्यराशिका बिन्दुमात्र पान करते ही हंसवाहनके आठों नेत्र भर आये। इतनेमें सहसा प्राणोंको झंकृत करते हुए एक साथ शत-सहस्र भावोंकी ऊर्मियोंसे हृदयको प्लावित करते हुए नराकृति परब्रह्म व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र सामने स्फुरित हो उठे। विधाताके नेत्रोंने स्पष्ट देख लिया—बाल्यलीलारसका आवेश वैसा ही है, लीलारसपानकी मत्तता अभी भी वैसी-की-वैसी बनी है। दधिमिश्रित ग्रास भी करकमलमें ठीक वैसे ही सुशोभित है और वे ठीक पहलेकी भाँति ही गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको चारों ओर खोजते फिर रहे हैं। कितना महान् आश्चर्य है—श्रुतियोंको ब्रह्ममें हस्त, पादकी उपलब्धि नहीं हुई—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'; किंतु आज इस वृन्दाकाननमें

वही ब्रह्म हाथमें दहीसे सने अन्नका ग्रास धारण किये विराजित है। श्रुतियोंके द्वारा जो एक, अद्वय निर्धारित हो चुका है—'**एकमेवाद्वितीयम्**', वही आज गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको ढूँढ़ता फिर रहा है। जो अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप है, अनन्त है—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', वही आज, 'कहाँ गये मेरे सखा! क्या हुए मेरे गोवत्स,' इस प्रकार अनजानकी भाँति अपनी खोयी निधिका अनुसंधान पा लेनेके लिये अपने चारों ओर दौड़ रहा है! परात्परकी यह गोपशिशुलीला, एक, अद्वयका शिशुवत्सान्वेषण, ज्ञानस्वरूपकी ऐसी मुग्धता, अनन्तका चारों ओर घूमकर खोज पा लेनेका प्रयास, ब्रह्मका दधिमिश्रित अन्नग्राससे विभूषित करपल्लव—यह कितना विस्मयजनक है!

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो
विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ६१)

ब्रह्म सनातन गोप-सरूपा।
निरखत पुनि-पुनि रूप अनूपा॥
पसुपबंस सिसुलीला धारी।
देखत पुनि-पुनि बदन निहारी॥
अद्वय एक बोध-सुख-रासी।
खोजत बत्स-बाल अबिनासी॥
है अनंत, पुनि सब घट-बासी।
जासु प्रभाकन जगत प्रकासी॥
सो परब्रह्म नाथ जगदीसा।
खोजत बत्स-बाल हरि ईसा॥
कवल-पानि बिचरत सुख मानी।
केवल सिसुलीला मैं जानी॥
× × ×
तहँ निरखे ब्रजराजकुमार।
अद्वै ब्रह्म अनंत अपार॥
बहुरि अगाध बोध श्रुति बोलै।
सो बछ-बालक ढूँढ़त डोलै॥
× × ×
जैसें प्रभु पूरब लखे बच्छ-हरन के ठौर।
अक्षि उघारि लखे तहाँ दधि-ओदन लिएँ कौर॥

अस्तु, व्रजेन्द्रनन्दनकी यह विश्वमनोहर शिशुलीला देखकर ब्रह्मा अब अपने वाहन हंसपर आसीन न रह सके। क्षणार्ध पूर्ण होनेसे पूर्व ही वे अपने वाहन हंसको छोड़कर वृन्दाकाननके अवनीतलपर उतर आये—वहाँ, जहाँ अतिशय कमनीय भङ्गिमा धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र अवस्थित हैं। स्रष्टा धैर्य तो कबके खो चुके थे, आते ही श्रीकृष्णपादपद्मोंमें लुट पड़े। उनका वह अरुणायित पीताभ-वर्ण शरीर ऐसा प्रतीत हुआ मानो एक विशाल सुवर्णदण्ड वेगसे नीलसुन्दरके चरणाग्रमें तृणसंकुलित भूमिपर आ गिरा हो। आज इस क्षण पितामहको अनुभव हुआ, मानो उनके अनादिसंचित अभिमानका भार सदाके लिये श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें समर्पित हो गया। अन्यथा उन्हें आशा नहीं थी कि महामहेश्वर नन्दकुलचन्द्रके इतने निकट जाकर भूमिपर लोटनेका परम दुर्लभ सौभाग्य वे पा सकेंगे। नैसर्गिक सनातन नियमोंका उल्लङ्घन नहीं होता। देवाभिमान अवशिष्ट रहनेपर साधारण प्राकृत भूमिका स्पर्श भी सम्भव नहीं—'**न हि देवा भुवं स्पृशन्ति**' और यह तो सर्वेश्वरकी चिदानन्दमयी क्रीडाभूमि है। इसकी एक रजःकणिकाका स्पर्श पा लेनेके लिये योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी लालायित रहते हैं। देवगण तो पायेंगे ही क्या? लीलापीयूष वितरण करनेके लिये आविर्भूत हुए सर्वेश्वरकी यह अपार करुणा ही है जो अमरवृन्द अन्तरिक्षकी सीमामें अवस्थित होकर लीलादर्शनका अधिकार पा लेते हैं। इससे पूर्व भी पद्मयोनि गोवत्सोंका हरण करनेके लिये वृन्दावनके उस तृणक्षेत्रमें उतरे थे, गोपशिशुओंको स्थानान्तरित करनेके लिये पुलिनके समीप आये थे। पर उस समय श्रीकृष्णचरणचिह्नित काननके रजःकणका पावनतम स्पर्श उन्होंने क्षणभरके लिये भी पा लिया हो, यह

बात बिलकुल नहीं। अपहरणकी समस्त क्रिया उनके द्वारा सम्पादित हुई थी, निम्नतम आकाशमें स्थित रहकर ही—वनभूमिको न छूकर ही। इसीलिये इस समय श्रीकृष्णपदपङ्कजमें दण्डवत् गिरकर पितामहका रोम-रोम आनन्दविह्वल हो उठा। फिर तो प्राणोंमें एक अभूतपूर्व उत्कण्ठा जागी, तिलमात्र और आगे सरक जानेका साहस आया तथा पितामह क्रमशः अपने चारों मस्तकोंको विभूषित करनेवाले मुकुटोंके अग्रभागसे व्रजराजनन्दनके चरणनख-चन्द्रका स्पर्श करने लगे। इस प्रकार विह्वल होकर इन चरणसरोजोंमें प्रणत होनेका सुख कितना निराला है— इसे एकमात्र पद्मयोनिके प्राणोंने ही अनुभव किया। अवश्य ही प्राणोंकी यह अनुभूति गुप्त न रह सकी। यन्त्रपरिचालित-से हुए स्रष्टाके सिर किंचित् ऊपरकी ओर उठ गये और इतनेमें उनके अणु-अणुको प्लावित कर अन्तर्देशका वह सुखपूर, आनन्दप्रवाह बाहरकी ओर छलकने लगा, अश्रुवारिके रूपमें परिणत होकर नेत्रोंके पथसे बह चला। स्रष्टाके आठों नेत्र झरने लग गये, एवं श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणसरोरुह प्रक्षालित होने लगे— नहीं-नहीं, महामहेश्वरकी अर्चना आरम्भ हुई, स्रष्टा प्रथम अपने प्रेमाश्रुकी अजस्र धारासे ही श्रीकृष्णचन्द्रके चरणयुगलका अभिषेक करने लगे—

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ६२)

जान्यौ जु ब्रह्म-सरूप जदुवर, हंस तजि पायन परयौ।
जिमि कनक-दंड जु गिरै पृथ्वी मुकुट निज हरि पद धरयौ॥
मुद बारि नयन प्रबाह करि, प्रभु पाइ, अभिषिंचन करयौ।

एक ओर तो स्रष्टाका हृदय पानी बनकर अविराम बह रहा है और अब उधर उनकी स्मृतिके अन्तरालसे श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यके, अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व देखे हुए दिव्यातिदिव्य चिन्मय दृश्योंके चित्रपट झलमल-झलमल करने लगते हैं। उन्हें स्मरण हो आता है— किस प्रकार ये व्रजेन्द्रनन्दन ही अनन्त गोप-शिशु एवं गोवत्सोंके रूपमें विराजित हो रहे थे, अपने स्वरूपभूत सहचरोंके साथ इनका निर्बाध गोष्ठविहार चल रहा था, फिर सहसा इनकी समस्त परिकरमण्डली अनन्त श्यामल चतुर्भुज रूपमें परिणत हो गयी। इस चमत्कार-दर्शनसे उनके (स्रष्टाके) अचेत हो जानेपर पुनः वह दृश्य अन्तर्हित हो गया, बाह्यज्ञान होनेपर वृन्दावनकी सम्पदा, शोभा नेत्रोंमें भर गयी और वहाँ ये सर्वेश्वर बाल्यावेशसे विमुग्ध हुए पुनः पूर्वकी भाँति ही दृष्टिगोचर हुए। यह स्मृति ब्रह्माको अतिशय चञ्चल कर देती है और वह पुनः लोटने लगते हैं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें। विचित्र दशा हो गयी है पितामहकी। जब वे व्याकुलतावश दण्डवत् लम्बित होकर अपने चारों मस्तक व्रजराजनन्दनके चरण-कमलोंपर रख देते हैं, उस समय अन्तस्तलमें एक अनिर्वचनीय भावका स्रोत उमड़ चलता है, अपनी क्षुद्रताकी अनुभूति उसकी प्रबल धारामें न जाने कहाँ बह जाती है और उसके स्थानपर श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति विशुद्धतम प्रेमिल अपनत्व जाग्रत् हो उठता है। उस समय स्रष्टा प्राणोंकी उमंग लेकर उठ बैठते हैं और देखने चलते हैं श्रीकृष्णमुखचन्द्रकी शोभा, पर देख नहीं पाते; आँखोंसे अनर्गल अश्रु-प्रवाहका वेग क्षणभरके लिये भी थमा जो नहीं है। तथा इतनेमें पुनः जाग्रत् हो जाती है उस महामहैश्वर्यकी स्मृति। दैन्य फिरसे आवृत कर लेता है परमेष्ठीके मनको और वे वैसे ही श्रीकृष्णचरणप्रान्तमें लोटने लग जाते हैं। ऐश्वर्यकी स्मृतिसे दैन्यका प्रादुर्भाव, तज्जन्य श्रीकृष्णपादपङ्कजमें पतन, उस पावन स्पर्शसे विशुद्ध स्नेहमयी निजत्व-भावनाका संचार, उससे उद्भूत श्रीकृष्णमुखारविन्द-दर्शनकी उत्कण्ठा, सावधान होकर— उठकर दर्शनका प्रयास और फिर सहसा सर्वेश्वरकी अनुभूत महिमाका पुनः उन्मेष — इस क्रममें नितान्त बँधे-से हुए हंसवाहन न जाने कितनी बार उठे और पुनः वैसे ही वेगसे गिरकर, अपने चारों मस्तक श्रीकृष्णचरणसरोरुहमें समर्पित कर निष्पन्द हो गये।

इस प्रकार यह भावमयी वन्दना पर्याप्त समयतक चलती रही, बहुत कालतक परमेष्ठी पड़े रहे श्रीकृष्णपादपङ्कजकी शीतल शंतम छायामें—

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन्।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६३)

पुनि उठत, पुनि गिरि परत, पुनि पुनि गिरत अति आनँद भर्यौ॥

× × ×

ज्यौं-ज्यौं वह महिमा उर फुरै।
उठि उठि पद-पंकज सो घुरै॥

आखिर जब क्रमशः भावका आवेग किंचित् शान्त हुआ, श्रीकृष्णचरणोंमें अगणित प्रणाम समर्पण करनेके अनन्तर ऊपरकी लहरें विलीन हो गयीं, भावके गम्भीर स्तरमें स्रष्टा निविष्ट होने लगे, तब वे अचिन्त्य प्रेरणावश धीरे-धीरे उठ बैठे। प्रेमजन्य एक सात्त्विक जडिमासे समस्त अङ्ग शिथिल हो रहे थे। किसी प्रकार देहको सँभालते हुए वे उपविष्ट हो सके। अनन्तर उन्होंने हाथोंसे अपने अश्रुपूरित नेत्रोंको पोंछा और दृष्टि उठायी नीलसुन्दरके मुखचन्द्रकी ओर। उन नयनसरोजोंसे पद्मयोनिकी आँखें जा मिलीं। अवश्य ही एक बार मिलकर भी वहाँ टिक न सकीं। अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्रने ठुकराया हो, यह बात नहीं, अपने-आप विधाताकी आँखें नीची हो गयीं। एक साथ अन्तस्तलकी अनेकों भावनाएँ द्रुत होकर पितामहके नेत्रोंमें छलक आयीं, यह भार असह्य हो गया उन नेत्रोंके लिये और वे स्वतः झुक गये। 'ओह! मैंने प्रभुके प्राणसखाओंको, प्रियातिप्रिय गोवत्सोंको इनसे अलग किया; प्रभुको ही अपने जीवनका सारसर्वस्व अनुभव करनेवाले नित्य भगवत्पार्षदोंका प्रभुसे मैंने अपने स्वार्थवश वियोग कराया—इस अक्षम्य अपराधका पात्र मैं हूँ। ब्रह्मपदके तो मैं सर्वथा अयोग्य हूँ ही, वह छिन गया तो उचित ही हुआ। पर श्रीकृष्णस्मृतिकी निधि मेरे अन्तःकरणसे यदि ले ली गयी तो मेरा क्या होगा? ओह! क्या दशा होगी मेरी? नहीं-नहीं, प्रभुके नेत्रपङ्कज अभी भी वैसे ही, उतने ही शीतल हैं। इस समय भी करुणाकी लहरें उठ रही हैं उनमें। हाय रे! कहाँ तो मैं इतना महान् अपराधी और प्रभुका यह औदार्य?'—इस प्रकार एक साथ अपराध, भय एवं लज्जाकी भावनाएँ स्रष्टाकी आँखोंमें भर आयीं और इनके बोझसे ही दृष्टि नमित हो गयी। युग्म स्कन्ध भी विशेषरूपसे अवनत हो गये। पितामहका रोम-रोम विनयसे पूर्ण हो उठा। अञ्जलि बँध गयी और अब वे नतजानु होकर, समाहित चित्तसे चले महामहेश्वरकी महिमाका गान करने। किंतु इसी समय पुनः हृत्तलकी प्रेमस्रोतस्विनी हिलोरें लेने लग गयी। स्रष्टाके समस्त अङ्गोंमें कम्पन आरम्भ हो गया। नेत्र तो मार्जन करनेके अनन्तर भी अश्रुसे सने थे ही, कण्ठ भी पुनः अश्रुपूरित हो गया। वेदगर्भ ब्रह्माकी वाणी एक बार तो रुद्ध हो जाती है। पर आजकी उत्कण्ठा भी अभूतपूर्व, असाधारण है; अश्रुसे सर्वथा अभिषिक्त हो जानेपर भी वाणी बाहरकी ओर निकल ही पड़ती है, स्रष्टा गद्गद कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करने लगते हैं—

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६४)

प्रभु-रूप-तेज-प्रभाव-बैभव सुमिरि हिय सकुचातु है।
पुनि उठ्यौ, निज कर पोंछि लोचन, निरखि मुख, हरखातु है॥
अति नम्र सिर, कर जोरि जुग, सह बिनय, कंपित गातु है।
पुनि प्रेम-गदगद, पुलक तन, नुति करन हित अकुलातु है॥
धरि धीरज, सुत कंज कौ अस्तुति करत बनाइ।
अति श्रद्धा जुत हरषि हियँ, लखि मुख, अति सुख पाइ॥

× × ×

नमित बदन, दृग भरि रहे पानी।
गदगद कंठ, फुरै नहिं बानी॥
सापराध बिधि निपटहिं डर्यौ।
अंजुलि जोरी, स्तुति अनुसर्यौ॥

ब्रह्माजीद्वारा की गयी स्तुति एवं प्रार्थना

'स्तवनीय श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हें नमस्कार है। विश्वमें एकमात्र वन्दनीय तुम्हीं हो नाथ! मैं तुम्हारी वन्दना कर रहा हूँ। अहा! नवजलधर-श्यामल अङ्ग-कान्तिवाले प्रभुके लिये नमस्कार है! स्थिर सौदामनी-सदृश पीताम्बरधारीके लिये प्रणाम है! गुञ्जारचित कर्ण-भूषणसे, चूड़ाके मयूरपिच्छसे परिशोभित मुखवालेके लिये मेरा नमन है। वनमाली—वन्य पत्र-पुष्परचित मालाधारीके लिये मेरी वन्दना है! नन्हे-से करतलपर दधिमिश्रित अन्नका ग्रास, कक्षमें वेत्र एवं शृङ्ग, कटिकी फेंटमें वेणु—इन असाधारण चिह्नोंसे अप्रतिम शोभाशालीके लिये नमस्कार है। इन लघु कोमल पादपद्मवाले प्रभुके लिये प्रणाम है। श्रीगोपेन्द्रतनयके लिये अनन्त वन्दन है। गोपाललालके इस सुमधुर वेषके लिये सर्वस्व न्योछावर है। और कुछ नहीं, नाथ! बस, तुम्हें ही अनन्तकालतक प्राप्त होनेके लिये—तुम्हारे ही शीतल शंतम चरणसरोजका अखण्ड आश्रय प्राप्त करनेके लिये तुम्हें मेरा असंख्य नमस्कार है, श्रीकृष्णचन्द्र!'—इस प्रकार पितामहकी स्तुति आरम्भ हुई—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। १)

अहो ईड्य! नव घन तन स्याम।
तडिदिव पीत-बसन अभिराम॥
मोर-पिच्छ-छबि छाजत भाल।
नैन बिसाल, सु-उर बनमाल॥
रस-पुंजा गुंजा अवतंस।
कवल, बिषान, बेत्र कर बंस॥
मृदु पद बृंदा-बिपिन बिहार।
नमो नमो ब्रजराज कुमार॥

× × ×

नौमि ईड्य घनस्याम सरीरा।
तडिदिव पीत लसत कटि चीरा॥
गुंजमाल कुंडल श्रुति सोहत।
मोर पिच्छ माथें जग मोहत॥
श्रीमुख पंकज अति छबिकारी।
मैन कोटि छबि तापर वारी॥
बन भय माल बिसद उर राजै।
पानि कवल धरि अति छबि छाजै॥
धरें बेत अरु बेनु बिषाना।
मृदु पद लस कल्यान-निधाना॥
नंदसुवन! तुम प्रभु गुन भारी।
प्रनवौं बार बार असुरारी॥

रुष्टाको आज एक साथ एक स्थलपर सभी वस्तुएँ प्राप्त हो गयी हैं। ज्ञानका आवरण सर्वथा सदाके लिये विलीन हो चुका है और वे सब कुछ यथावत् देख रहे हैं। उनके प्राणोंका अनुभव ही शब्द बनता जा रहा है, प्रत्येक अनुभूति ही स्तवनके शब्दोंसे झर-झरकर बाहर बिखरती जा रही है। इससे पूर्व युग-युगके आरम्भमें वेदज्ञानका विस्तार होते समय न जाने कितनी बार स्वयं उनके मुखसे ही इस परम सत्य सिद्धान्तका प्रकाश हो चुका है—

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

'आकाशसे बरसती मेघकी जलधारा कहीं भी गिरे, सागरकी ओर ही प्रवाहित होगी। वैसे ही समस्त देवोंके प्रति किया हुआ नमस्कार भी श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणसरोजोंकी ओर ही केन्द्रित हो जाता है।'

किन्तु ब्रह्माको ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो प्रथम बार इस सत्यको वे जान पाये हों, श्रीकृष्णचन्द्र ही अनन्त रूपोंमें अनन्त उपासकोंके द्वारा अपने-अपने भावोंसे आराधित होते हैं, सब वास्तवमें इन्हींकी वन्दना करते हैं, सबके मूलस्वरूप ये ही हैं, इस

ज्ञानकी उपलब्धि उन्हें आज हुई हो। इसीलिये उल्लसित होकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको 'स्तवनीय' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं—सबके स्तवनका पर्यवसान जहाँ, जिन चरणोंके प्रान्तमें है वहीं वे न्योछावर हो रहे हैं। और इतनेमें पुनः नेत्रोंमें भर जाती है श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंकी नवनीरदकान्ति। वे सोचने लगते हैं—'सचमुच जैसे नव-जलधर विचार नहीं करता उच्च-नीचका, मलिन-पवित्रका, सर्वत्र समानभावसे बरसकर वह ग्रीष्मका ताप शमित कर देता है, वैसे ही ये श्रीकृष्ण-जलधर भी कहाँ देखते हैं उज्ज्वल, तमोमय भावोंकी ओर; समानभावसे सबपर बरस रही है इनकी लीलासुधाकी, करुणामृतकी मधुर धारा। उस बालघातिनी पूतनाको मातृगति, इस महानिर्दय अघासुरके संसरणका अन्त समान कृपावर्षणके ही तो निदर्शन हैं। इससे पूर्व मत्स्य-कूर्म आदि रूपोंमें प्रभुकी कृपाका ऐसा अयाचित दान कहाँ किसे मिला था? यह तो नवजलधर-श्यामल रूपका ही मानो निजस्व है। बस, बस, यही है! नाथ! तुम्हारा यह नवमेघ-श्यामल विग्रह ही मेरा सारसर्वस्व है, मेरा अणु-अणु सिक्त हो जाय इसकी अनोखी श्यामछटासे।'—पितामहके अन्तर्मनका यही भाव बाहर व्यक्त हो उठता है इस रूपमें—'नवजलधर-श्यामल अङ्गकान्तिवाले प्रभुके लिये नमस्कार है!'

अब पीताम्बर आकर्षित करता है पद्मयोनिके मनको। श्रीअङ्गोंकी स्निग्ध श्यामल ज्योतिके प्रवाहमें डूबती-उतराती हुई उनकी दृष्टि पीतपटके छोरमें उलझ जाती है तथा एक अभिनव भावका स्फुरण होता है—'अहा! जैसे नवजलधरमें सदा विद्युत् रहती है, वैसे ही इन कृष्ण-जलधरमें भी पीतवसनरूप तडित्का निवास है। अन्तर इतना ही है कि प्राकृत मेघमें वह सतत चञ्चल है, जब कि इन कृष्ण-मेघकी यह सौदामनी सुस्थिर सुशान्त है।' इतना ही नहीं, पितामहको प्रतीत हुआ, मानो व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके पद्मदलायत नेत्रोंसे यह संकेत झर रहा हो—'देखते हो न, तडित्-सी चञ्चल वस्तु भी मेरे सम्पर्कमें आकर स्थिर हो गयी है। ऐसे ही कोई अपने अतिशय चञ्चल चित्तको भी यदि मुझे समर्पित कर दे तो मैं उसे निश्चल करके सदाके लिये अपने पास ही रख लेता हूँ—'**सजल स्यामघन बरन लीन है, फिर चित अनत न भटक्यौ।' कोई देकर देखे तो सही!**'—बस, ब्रह्मा बह चले इसी भावनाकी ऊर्मियोंमें तथा उनकी वाणी पुकारने लगी—'स्थिर सौदामनी-सदृश पीताम्बरधारीके लिये प्रणाम है।'

इसी निमित्तसे अन्य सजातीय संस्कार जाग उठते हैं। पद्मयोनिको स्मृति हो आती है वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायणदेवकी। वे सोचने लगते हैं—'वे भी तो नव-नील-नीरदवर्ण हैं, पीत-पटधारी हैं। इतना साम्य तो उनमें भी है। पर उनके आभरण इन पुरोवर्ती गोपेन्द्रनन्दनसे सर्वथा भिन्न हैं। वे मणिमुकुटसे विभूषित हैं, मणिकुण्डल धारण करते हैं; अङ्गद, रत्नमय वलय, कङ्कणसे परिशोभित हैं, नूपुर, कटक (कड़े), मेखला, अङ्गुलीयक आदि उनके आभूषण हैं। मानो किसी भी साधारण वस्तुके लिये वहाँ स्थान नहीं, सर्वोत्कृष्ट रत्नसमूह ही श्रीअङ्गोंके आभरणरूपमें स्वीकृत हुए हैं। किंतु बलिहारी है इन व्रजराजकुमारकी! अहा! अतिशय सामान्य वस्तु गुञ्जाका तो ये अवतंस धारण किये हुए हैं, तुच्छ मयूरपिच्छसे इनका शिरोभूषण निर्मित हुआ है, वनसे चयन किये हुए पल्लव-पुष्पोंकी माला वक्षःस्थलका आभरण है। अतः मेरे-जैसे तुच्छ दीन-हीन अकिंचनको भी यदि कहीं आश्रय मिल सकता है तो इन व्रजराजकुमारके चरण-प्रान्तमें ही! श्रीनारायणके चरणाश्रयके उपयुक्त कहाँ पाऊँगा मैं समुज्ज्वल दिव्य भाव? उत्कृष्टतम वैभवसे नित्य परिवेष्टित वैकुण्ठविहारी मुझे क्यों स्वीकार करने लगे। मुझे तो आश्रय दान कर सकते हैं मयूर-पिच्छधारी व्रजविहारी ही।' इसी भावसे भावित होकर स्रष्टा कह उठते हैं—'गुञ्जावतंससे, मयूरपिच्छसे परिशोभित मुखवालेके लिये, वनमालीके लिये मेरी वन्दना है।'

ब्रह्माके समक्ष अब इन वनमाली व्रजलीलाविहारीका

अनन्त अपरिसीम माधुर्यसिन्धु उद्वेलित हो उठता है। अपने पार्षदोंको इस प्रकार अनर्गल विशुद्ध प्रेमरसका दान, असंख्य पार्षदोंके साथ लीलासिन्धुमें ऐसा निर्बाध संतरण, वंशीके छिद्रोंसे स्वरूपानन्दका यह समान वितरण, रूपमाधुरीकी ऊर्मियोंसे विश्वका यह सम्प्लावन इससे पूर्व किसी अवतारमें व्यक्त नहीं हुआ। उन गोवत्सोंका सिर सूँघना, मुखचुम्बन करना, अपने करकमलोंसे हरित मृदुल तृणका संचय कर ग्रास देना, अपने अञ्जलिपुटमें जल भरकर, उनके मुखमें अपना आर्द्र पीताम्बर निचोड़कर उनकी तृषा शान्त करना, अगणित गोपशिशुओंमेंसे प्रत्येककी रुचिका पूर्ण आदर करना—पार्षदोंके प्रति यह प्रेम-व्यवहार पहले कभी प्रकट नहीं हुआ। असंख्य पार्षदोंके साथ लीलामाधुरीका ऐसा प्रकाश कभी नहीं हुआ था। वेणु-माधुर्यका वितरण—वंशीसे दिव्यातिदिव्य रस बरसाकर स्थावर-जंगमको विमोहित करनेकी अनोखी क्रिया भी पहली बार हुई है। सुर-असुर, नर-नाग, पशु-पक्षी रूपसुधाका पान कर विमुग्ध हो जायँ, इसमें कहना ही क्या है, स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन भी अपने ही रूपसे आप विमुग्ध हो उठें—ऐसी उन्मादक रूपमाधुरी भी व्यक्त हुई है इसी बार। आकाशपथसे पितामहको इसी अपरिसीम रस-सागरका एक बिन्दुमात्र उपलब्ध हुआ था—उन्हें दीख गये थे व्रजराजकुमार विचित्र वेशमें सखाओंके साथ पुलिनपर भोजन करते हुए! वे इस रस-सिन्धुमें अवगाहन करनेका—इसके एक कणमात्रका पुनः आस्वादन पा लेनेका लोभ संवरण न कर सके और उन्होंने वत्सहरण किया था। अबतक तो मानो वे भूले हुए-से थे इन बातोंको। प्रभु-चरणोंमें किये हुए अपराधकी भावनासे दबे हुए थे ये प्रेमिल भाव। किन्तु आँखें डूबीं, मन डूबा, बुद्धि निमग्न हुई श्रीकृष्णचन्द्रके नवजलधर-श्यामल श्रीअङ्ग-समूहकी गुञ्जावतंस-मयूरपिच्छकी छटासे उल्लसित वनमालीके वदनारविन्दकी सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु-सरितामें! फिर अपराधकी भावना कहाँ टिकती। बह गयी वह भी इसके प्रबल प्रवाहमें। चतुर्मुखकी आँखोंने पुनः देख लिया श्रीकृष्णचन्द्रके उस अभिनव साजको ही—दध्योदन, वेत्र, विषाण, वेणु वैसे ही यथास्थान सुसज्जित हैं। पितामहके प्राण प्रेमावेशसे स्पन्दित होने लगते हैं। लालसा हिलोरें लेने लगती है—'अनन्तकालतक श्रीकृष्णचन्द्रका यह माधुर्यमय रूप ही मेरे प्राणोंका आधार रहे, श्रीकृष्णचन्द्र इस रूपमें ही मुझे चरण-शरण दें।' तथा यही अभिलाषा बाहर झंकृत होने लगती है—'करतलपर दध्योदन, कक्षमें वेत्रशृङ्ग, कछौटीमें वेणुरूप असाधारण चिह्नोंसे अप्रतिम शोभाशालीके लिये नमस्कार है।'

बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका यह बाल्यावेश पितामहके मनका मन्थन कर रहा है। किसी अचिन्त्य प्रेरणावश व्रजेन्द्रनन्दनके जन्मसे लेकर अबतककी समस्त लीलाएँ स्रष्टाके मानसतलमें स्फुरित होने लगती हैं। वे सोचते हैं—प्रभुके भक्तवात्सल्यका प्रकाश जितना इस बालरूपमें हुआ है, उतना और किसी रूपमें नहीं। अहा! वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंके, गोपोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दनने कैसी-कैसी मनोहर लीलाएँ कीं। व्रजपुरन्ध्रियोंके गृहोंमें जाकर प्रत्येककी रुचिका अनुसरण करते हुए नवनीतहरणकी अभूतपूर्व लीला इस बालरूपमें ही सम्पन्न हुई। इन परब्रह्म पुरुषोत्तमने वात्सल्यवती जननी यशोदाके दिये हुए बन्धनको स्वीकार किया इस बालरूपसे ही। युग्म अर्जुनवृक्षोंको अयाचित, अतुलनीय कृपाका दान मिला इन दामबन्धनमें आये हुए बाल्यलीलारसमत्त प्रभुके द्वारा ही। आह! किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश ये बालगोपाल मुझे भी अपने चरणोंकी शरण दान कर देते, गोप-गोपियोंकी भाँति मुझे भी बालकृष्णके चरण-संलालनका, वक्षःस्थलपर इन पुण्य पदपल्लवोंके स्थापित करनेका अधिकार मिल जाता तो चिरजीवनकी एकमात्र साध पूरी हो जाती, मैं कृतार्थ हो जाता! इससे पूर्व अपने चरणदर्शनके दुर्लभ अवसर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने दिये अवश्य हैं, पर उस समय आजकी भाँति सुख-सेव्य चरण कहाँ?

और तो क्या, इन चरणोंकी संनिधिमें भी जा सकूँ, यह साहस ही मुझमें उस समय कहाँ था? भयवश प्राण कम्पित हो रहे थे। ओह! अभी भी श्रीकृष्णचन्द्रके उस नृसिंहरूपकी स्मृति प्राणोंमें भयका संचार कर दे रही है—ग्रीवाके केशसमूहसे टकराकर सुरविमान अस्त-व्यस्त हो गये। स्वर्ग डगमग-डगमग कर उठा। पादकी धमकसे धरा धूजने लगी, वेगसे पर्वत उड़ चले। तेजकी ऐसी चकाचौंध फैली थी कि आकाश एवं दिशाओंका ज्ञान लुप्त हो गया—

द्यौस्तत्सटोत्क्षप्तविमानसंकुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। ३३)

किसीका साहस न था कि समीप जाकर प्रभुको अपनी सेवा समर्पित कर सके—

प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन।

(श्रीमद्भा० ७। ८। ३४)

दूरसे ही मैंने प्रभुकी वन्दना की थी—

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः स्वलीलया संदधतेऽव्ययात्मने॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। ४०)

'प्रभो! आप अनन्त हैं, आपको नमस्कार कर रहा हूँ। आपकी शक्तिका पार नहीं। आपके पराक्रम विचित्र हैं, कर्म पवित्र हैं। आप गुणोंके द्वारा ही अपनी लीलासे विश्वका सृजन, पालन, प्रलय करते हैं, फिर भी निर्विकार हैं! आपको नमस्कार है, प्रभो!'

—बस, प्रणाममात्र निवेदन कर लौट आया था। इसके पश्चात् वामनरूपसे प्रभुने अवसर दिया था चरणस्पर्शका। बलिके द्वारा संकल्प की हुई तीन पग भूमिको ग्रहण करनेके लिये प्रभुने चरण-विस्तार किये। वामनदेवका वह पदविन्यास ऊपरकी ओर उठता हुआ महर्लोक, जनलोक, तपोलोकका अतिक्रमण कर मेरे आवास सत्यलोकमें आया। उनके उस चरणनखचन्द्रकी छटासे सत्यलोककी आभा प्रतिहत हो गयी। मैं स्वयं उस प्रकाशमें निमग्न हो गया। दौड़ा मैं अभिनन्दन करने। और मैंने फिर उस चरण-अङ्गुष्ठका प्रक्षालन किया—

उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः॥

(श्रीमद्भा० ८। २०। ३४)

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभिर्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात्।

(श्रीमद्भा० ८। २१। १)

अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णोरुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम्।

(श्रीमद्भा० ८। २१। ३)

उस समय भी प्रभुके चरण मेरे लिये सुखसेव्य न हो सके; किंतु आज किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे भक्तवत्सल प्रभु बाल-गोपालके चरण मेरे समक्ष हैं—इस रूपमें हैं कि मैं इन्हें यथेच्छ अपने हृदयपर धारण कर अपनी चिर लालसाको पूर्ण कर सकूँ। इस बारकी लीलामें बृहद्वनकी वृन्दाकाननकी धराने, धराके वक्षःस्थलपर स्थित तरु-गुल्म-लताओंने इन बाल्यलीलाविहारीके अनावृत चरणोंका स्पर्श पाया है। और तो क्या—कीट, पतंग, भृङ्गोंने भी उड़-उड़कर इन चरणसरोरुहका मधुर मनोहारी घ्राण प्राप्त किया है, स्पर्श-सुखसे वे उन्मत्त हुए हैं। प्रभु मुझे भी इस बार वञ्चित नहीं ही रखेंगे। पर आह! मेरे लिये तो मर्यादाकी रोक लगी है। जो मेरे जन्मदाता पिता हैं, जिनके नाभिपद्मसे मेरा प्रादुर्भाव हुआ है, जो मेरे उपदेष्टा हैं, जिनके उपदिष्ट मन्त्रकी मैं उपासना करता हूँ, जो मेरे स्वामी हैं, जिनके नियन्त्रणमें ही विश्वका सृजन करता हूँ, उन्हें बालक कहकर सम्बोधन कैसे करूँ, इन पिता-गुरु-स्वामीको पहले बालक बतलाकर फिर चरण-शरणदानकी प्रार्थना कैसे करूँ? शिष्टमर्यादाके विपरीत मेरा यह आचरण कैसे क्षम्य होगा? साथ ही बाल-गोपालकी लीलामाधुरीके आस्वादनका लोभ परित्याग कर सकूँ, यह भी सम्भव नहीं। क्या करूँ? कैसे कहूँ प्रभुसे·····।'—इस प्रकार—क्षण भी न लगा—पितामह इतनी अधिक बात सोच गये। वे व्याकुल हो उठे। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी

कृपाशक्तिने अपने-आप स्रष्टाकी भावनाको अक्षुण्ण रखते हुए ही बाल्यभावके उपयुक्त शब्दयोजना कर दी और चतुर्मुखके मुखसे निकल पड़ा—'इन लघु कोमल पादपद्मवाले प्रभुके लिये प्रणाम है!'

यह सब हुआ। किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंकी शरण पा लेनेके लिये भी एक पद्धति है। उसका अनुसरण शरण चाहनेवालेके लिये अनिवार्य है। चतुर्मुख इससे अपरिचित हों, ऐसी बात नहीं। उन्मुक्त गगनमें उड़ते हुए राजहंसको देखकर पकड़ लेनेकी, पकड़कर अपने उद्यानके सरोवरमें अथवा सुन्दर-से पिञ्जरमें रुद्ध रखनेकी लालसा कितनोंको ही हो सकती है। पर उसे सचमुच पकड़ लेनेकी सामर्थ्य सबमें नहीं होती, नहीं हो सकती। जो वनविहंगमोंको जालमें आबद्ध करनेका कौशल जानता हो, उसके समीप ही अपनी अभिलाषा निवेदन करनी पड़ती है और तभी राजहंस अपने उद्यानकी, पिञ्जरकी शोभा बढ़ानेके लिये प्राप्त हो सकता है। चतुर्मुख जानते हैं—'उन्मुक्त अनन्त ऐश्वर्यके आकाशपथमें उड़ते हुए इन श्रीकृष्णराजहंसको वात्सल्यप्रेमके जालमें उलझाकर अङ्कमें धारण करनेकी कला व्रजेश्वरीको— व्रजराजको ही ज्ञात है; उन्होंने वात्सल्यका जाल विस्तीर्णकर इन बालकृष्ण-मरालको अपनी निधि बना लिया है। इसीलिये उनकी ही कृपाकोरसे मुझे बालकृष्णके चरण प्राप्त हो सकेंगे, इन मृदुल चरणोंका सेवाधिकार मिल सकेगा।' स्रष्टाके अन्तर्हृदयमें ये भाव लहराने लगते हैं—'ओह! कैसे पाऊँ व्रजरानीका, व्रजेश्वरका पुनीत आशीर्वाद, उनकी कृपाभरी दृष्टिकी एक छाया? मैं देवशरीरसे उनकी वन्दना भी करने जाऊँ तो वे संकुचित हो उठेंगे, नहीं-नहीं, उनके वात्सल्यपूरित चित्तमें अपने नीलसुन्दरके लिये आशङ्का उत्पन्न हो जायगी। यह तो एक नया अपराध बन जायगा। फिर क्या करूँ? अच्छा, एक उपाय है, किसी भी विद्याके पारंगत महानुभावका स्मरणमात्र ही वैसे अभीष्ट उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। मैं व्रजेश्वरको स्मरण करके, उनसे इन बालगोपालके नित्य सम्बन्धका निर्देश करके वन्दना करूँ तो मुझे अपना चिरवाञ्छित मिलकर ही रहेगा, अपने पिताका नाम सुनकर प्रभु द्रवित हो ही जायँगे। बस, अविलम्ब ऐसा ही हो! हे व्रजेश्वरके वात्सल्यजालमें उलझे हुए, बँधे हुए बालगोपाल! तुम्हारे योगीन्द्र-मुनीन्द्र-मनमोहनके ऐसे वेशके दर्शन इसी लीलामें हुए। इससे पूर्व अनन्त रूपोंमें तुम्हारे पुनीत लीला-यशसे मेरे द्वारा निर्मित यह जगत् पावन हो चुका है; पर तुम्हारा माधुर्य मेरे प्राणोंका मन्थन कर दे, मुझे ही विमोहित कर दे—यह इसी बार, इसी लीलामें हुआ नाथ! मेरे प्राण आकुल हैं प्रभो! तुम्हारे चरणसरोरुहकी शीतल छाया प्राप्त कर लेनेके लिये। एकमात्र अभिलाषा है, व्रजेन्द्रकुलचन्द्र! —गोपगोपीसंलालित इन लघु चरणोंका आश्रय मुझे भी सदाके लिये। अनन्तकालतकके लिये मिल जाय। इतनी-सी कृपा कर दो, व्रजराजनन्दन!'—जगत्-स्रष्टाकी यह भावना ही सिमटकर इन शब्दोंमें परिणत हो जाती है—'श्रीगोपेन्द्रतनयके लिये अनन्त वन्दन है.....।'

अस्तु, भावकी तरङ्गोंपर बहते हुए ब्रह्माने कुछ ही शब्दोंमें अपनी अभिलाषा श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंमें निवेदित कर दी। इसी समय व्रजराजकुमारके अरुणिम अधरोंपर मन्दस्मितकी एक लहर-सी आयी। नेत्रकमल भी किंचित् चञ्चल हो उठे। स्रष्टाको प्रतीत हुआ, मानो व्रजेन्द्रनन्दन व्यङ्ग्यात्मक संकेत कर रहे हों—'पितामह! कर क्या रहे हो! कहाँ तो तुम जगदैश्वर्याधिपति और कहाँ मैं एक वनवासी गोपका पुत्र! अरे, तुम तो पुरातन पुरुष ठहरे और मैं एक शिशु हूँ। तुम हो वेदका अर्थ—तात्पर्य जाननेवाले परम विद्वान्, सदाचारपरायण और कहाँ मेरा यह जीवन कि मैं गोवत्सोंका चरवाहा हूँ। इसीलिये वेदाध्ययनका सौभाग्य तो मुझे मिलनेसे रहा, सर्वथा अध्ययनशून्य हूँ मैं। स्मृतिके आचारकी गन्ध भी मुझमें नहीं। मैं जानता ही नहीं। बैठे, खड़े, घूमकर—चाहे जैसे, भातका ग्रास मुखमें रख लेता हूँ। और देखो न, तुम तो माया जाननेवाले हो, परम सुखी हो, साक्षात्

परमेश्वर ही हो और मेरी दशा यह है कि तुम्हारी मायासे मोहित हुआ, दु:खका मारा वनमें यहाँसे वहाँ घूम रहा हूँ। सोचो, तुम इतने महान्, मैं इतना तुच्छ—मैं कभी तुम्हारा स्तवन करनेके भी योग्य हूँ?

भो ब्रह्मंस्त्वं जगदैश्वर्याधिपतिरहं तु वन्यगोपालपुत्रस्त्वं पुरातनोऽहं तु बालस्त्वं वेदार्थतात्पर्यविज्ञत्वात् परमविद्वान् सदाचारपरायणोऽहं तु वत्सचारकत्वादध्ययनशून्यः स्मार्त्ताचारगन्ध-मप्यजानंस्तिष्ठन् भ्राम्यन्नप्योदनकवलं भुञ्जानस्त्वं मायी परमसुखी साक्षात् परमेश्वर एवाहं तु त्वन्मायामोहितो मनोदुःखेन वने पर्यटंस्तव स्तवं कर्त्तुं नार्हामीति।

(सारार्थदर्शिनी)

'आखिर मेरे प्रति इतनी विनय क्यों? विशेषत: मेरे इस काले शरीरके लिये तुम्हारे मनमें इतना आकर्षण क्यों है? इसमें तुम्हें क्या दीख रहा है? अपने वेदज्ञानके आलोकमें देखकर इसमें यदि कोई तत्त्व-रहस्य है तो उसे बताओ तो सही'—पद्मयोनिकी आँखोंने व्रजेन्द्रनन्दनकी भोली चितवनमें इस इङ्गितकी कल्पना कर ली और वे विह्वल हो उठे। आठों नेत्रोंमें एक पश्चात्तापपूर्ण आर्त्ति भर आयी और इङ्गितका उत्तर दैन्यभरे इङ्गितमें पहले उन नेत्रोंने ही दे दिया—'नाथ! नाथ! बहुत हो चुका! अब मुझे विमोहित मत करो, व्रजराजकुमार! मेरे लिये तुम्हीं एकमात्र अवलम्ब हो; तुम्हारा श्याम कलेवर ही मेरे जीवनका आधार है, रहेगा। हे महामहिम! कैसे बताऊँ तुम्हारी एवं तुम्हारे इस श्याम-कलेवरकी महिमाको। सच तो यह है—सदा जगत्-सृजनमें ही निरत मेरी बुद्धि, मेरे मनमें सामर्थ्य नहीं कि उसे स्पर्श कर सकें; वाणी तो करेगी ही क्या! इतना ही कह सकता हूँ कि·····।'—बस, फिर तो पितामहकी वाणी पुन: चञ्चल हो उठती है और वे कहने लग जाते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। २)

'देव! तुम्हारा यह श्रीविग्रह अपने स्वजनोंकी अभिलाषाके सर्वथा अनुरूप है, भक्तोंकी अभिलाषामयी ही यह तुम्हारी अभिव्यक्ति है। विशेषत: इसका प्रकाश तो मुझपर अनुग्रह करनेके लिये ही हुआ है। यह पञ्चभूतोंकी रचना कदापि नहीं है, नाथ! यह तो अप्राकृत—विशुद्ध सत्त्वमय है। अन्यकी बात दूर, मैं स्वयं समाधिमें स्थित होकर भी इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता। फिर आत्मानन्दानुभवस्वरूप साक्षात् तुम्हारी महिमाको—जहाँ रसराज महाभावस्वरूपमें तुम नित्य विराजित हो, उसे कोई कैसे जान सकता है स्वामिन्!'

देव देव हे दीनदयाला।
यह नर-वपु तव प्रगट कृपाला॥
गोचर नयन, मयन मनहारी।
यह अवतार धर्‍यौ सुखकारी॥
सोउ महिमा मोहि अघट, गोसाँई।
अपर जानि सक, किन मति पाई॥
यह वपु तुम निज भक्तहित धर्‍यौ नाथ, यह जानि।
गोकुल, गोपी, गोपजन—सब काहू सुख दानि॥
तौ किमि जानि सकै नहिं कोई।
इमि जो नाथ! कहौ जिय जोई॥
तुम अनीह आतम सुख रूपा।
पूरन ब्रह्म अगुन गुनरूपा॥
एक, अनेक, सकल घट बासी।
कृपासिंधु तुम जन सुखरासी॥
कौन लखै तव चरित कृपाला।
यातें गाइअ गुन-गन-माला॥

× × ×

है प्रभु यह तुम्हरौ अवतार, सुलभहि प्रगट सकल श्रुति सार।
मो पर परम अनुग्रह कर्‍यौ, किधौं भक्तन की इच्छा धर्‍यौ॥
याकी महिमा नहिं कहि परै, मो से जौ अनेक पचि मरै।
जो साच्छात बस्तु इक आहि, अवतारी अवलंबत ताहि॥

सो तुम जाने परत कौन पै, रसि है जात न गह्यौ बौन पै।

'इसीलिये, नाथ!'—पितामह बोलते ही चले गये। 'जो भक्तजन हैं, वे तुम्हारे स्वरूपकी—ऐश्वर्यकी महिमापर विचार करने नहीं जाते। इसके लिये वे तनिक भी परिश्रम नहीं करते। तीर्थाटन आदि करनेकी भी उनकी रुचि नहीं होती। वे तो तुम्हें ही अपने जीवनका सार-सर्वस्व बना चुकनेवाले संतोंके द्वारका आश्रय ग्रहण करते हैं। अव्यग्रचित्तसे वहाँ निवास करते हुए संतोंके द्वारा कही हुई तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाकी कथाओंको ही, उनके द्वारा गान किये हुए भक्त-चरित्रोंको ही श्रवण करते रहते हैं। कथा-श्रवणके समय आदरकी भावनासे उनकी अञ्जलि बँध जाती है, प्रेमावेशसे 'हरे! नारायण! जगत्पते!' की पावन ध्वनि उनके मुखसे निकल पड़ती है। कथाका अनुमोदन करनेके लिये उनका अन्तर्मन पूर्ण रहता है कथाकी निष्ठासे। इस प्रकार काय-मनोवाक्यसे वे तुम्हारी चर्चाको ही जीवनका सार-संबल बना लेते हैं। उनके आदरकी वस्तु एकमात्र तुम्हारी कथा ही रहती है। उनके प्राणधारणका अवलम्बन केवल तुम्हारी चर्चा ही बच रहती है। और बिना ही परिश्रम उन्हें कथा-श्रवणका यह परम सौभाग्य प्राप्त रहता है संतोंके द्वारपर। वे संत अनृतके भयसे, इन्द्रियोंकी चञ्चलता-बहिर्मुखताके डरसे, अथवा तुम्हें ही प्राप्त हो जानेके कारण उनके लिये सदा-सर्वथा समस्त प्रयोजनोंका अभाव हो जानेसे अन्य प्रसङ्गोंमें मौन रहनेपर भी तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाका कीर्तन किये बिना रह नहीं सकते। इसीलिये तुम्हारी चर्चा अतिशय सुलभ रहती है उन संतोंके निकट निवास करनेवालोंको! जीवनका प्रत्येक क्षण बीतता है तुम्हारी कथाके सम्बन्धको लेकर ही। तथा इसीका परिणाम यह होता है कि नाथ! हे अजित! जो तीनों लोकमें किसी भी उपायसे किसीके द्वारा भी वशमें किये नहीं जा सकते, वे भी तुम उनके द्वारा—तुम्हारे वार्ताश्रवण-परायणजनोंके द्वारा, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन न करनेपर भी, प्रायः वशमें कर लिये जाते हो। भक्तोंद्वारा आचरित इस जीवनचर्याको जो अपना लेते हैं, परमार्थके पथमें इस भक्त-पद-चिह्नका ही अनुसरण करते हुए अग्रसर होते हैं, वे चाहे कोई भी हों—उनके लिये ऐसी बात होकर ही रहती है, प्रभो!'

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३)

ग्यान बिषै प्रयास परिहरै, तुम्हरी कथा बिषै मन धरै।
जैसैं सुंदर संत तुम्हारे, कथा-अमृत के बरषनहारे॥
तिन पै सुनै, श्रवन रस भरै, मन-बच-क्रम बंदन पुनि करै।
बैठे ठौर कथा-रस पीवै, जे इहि भाँति जगत में जीवै॥
अहो अजित! तिन करि तुम जीते, ग्यानी डोलत भटकत रीते।

× × ×

नैन रूप श्रुति कथा सुहानी।
मुख तव नाम रटत सुखदानी॥
इहि बिधि जे जीवत जग प्रानी।
ते कृतकृत्य भए, मैं जानी॥
तीनि लोक महँ अजित, अनंता।
तिन जीतेउ तुम कहँ भगवंता॥
तव गुन-कथा अमृत अति पावनि।
गलित सूरि-मुख तें मनभावनि॥
निसि दिन पान करत मन लाएँ।
जन्म लाहु तिन्ह हीं एक पाए॥

आज ब्रह्माको स्पष्ट दीख रहा है कि उपर्युक्त श्रवणादिरूप भक्तिका आश्रय लिये बिना ज्ञान चाहनेवालेको ज्ञानकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। तथा वे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरण-प्रान्तमें अपने भाव-पुष्प समर्पित करते हुए अपनी इस अनुभूतिको भी निवेदन कर दे रहे हैं—'हे प्रभो! सबके लिये नितान्त आवश्यक है तुम्हारी भक्ति। इसके अभावमें न अभ्युदय सम्भव है न अपवर्गकी सिद्धि। क्योंकि सब प्रकारके कल्याणका उदय, विस्तार इस भक्तिरूप मूल स्रोतसे ही तो होता है; समस्त मङ्गलोंका उद्गम जो यह ठहरी। किंतु लोग

भ्रान्त हो जाते हैं, नाथ! इसका आश्रय ग्रहण करना तो दूर, इसकी अत्यन्त अवहेलना कर बैठते हैं। उन्हें तुम्हारे मङ्गलमय नामोंका पीयूष सतत आस्वादनके योग्य नहीं प्रतीत होता, तुम्हारे अनिन्द्यसुन्दर मधुरातिमधुर रूपकी चर्चा उन्हें आकर्षित नहीं करती। तुम्हारे अनन्त कल्याणमय, मधुस्रावी गुणगणोंका वर्णन-श्रवण उन्हें प्रिय नहीं होता; तुम्हारी दिव्य लीलाएँ, तुम्हारा चिदानन्दमय विहार उन्हें अपने चिन्तनयोग्य वस्तु नहीं दीखती! वे अनादर कर देते हैं तुम्हारी इन रसमयी वार्ताओंका, सरस भावनाओंका; और इसके बदले ज्ञानकी संथा लेकर तुम्हारी महिमाका पर्यवसान देखनेके लिये अथवा आत्मबोधके लिये ही वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं, अतिशय परिश्रम करते हैं वे। सर्वमङ्गलनिकेतन तुम्हारी भक्ति उन्हें सहजमें ही ज्ञानकी प्राप्ति करा देती, इसके अवान्तर फलरूपमें उन्हें स्वत: आत्मबोध हो जाता; पर इस ओर वे ताकते ही नहीं। वे तो भक्तिकी उपेक्षा कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही अथक श्रम करते रहते हैं। किंतु इतना करनेपर भी, प्रभो! ज्ञानकी आलोकमाला उनके मानस-तलको, उनकी बुद्धिको उद्भासित नहीं करती, अपितु परिणाममें हाथ लगता है—केवल क्लेश-ही-क्लेश—साधन-श्रममात्र; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं—साधनजन्य यत्किञ्चित् सिद्धियाँ भी नहीं। मिलें कैसे? समस्त सिद्धियोंकी मूल तो तुम्हारे श्रीचरणोंकी अर्चना है; तुम्हारे सम्बन्धसे शून्य कोई भी साधन किसी भी शुभ फलका सृजन कर जो नहीं सकते। अत: उनके लिये भी बच रहता है केवल असफल आयासमात्र—ठीक उसी प्रकार जैसे अल्प परिमाणमें सामने रखे हुए धान्यको परित्यागकर तन्दुल निकाले हुए धान्यतुषकी राशि—थोथी भूसीके ढेरको कूटनेपर अन्नकणोंकी उपलब्धि नहीं होती, निरर्थक श्रममात्र ही होता है। श्रेयकी निर्झरिणी तुम्हारी भक्तिकी जो अवहेलना कर देते हैं, वे शुष्क ज्ञान-लाभके लिये भले ही कुछ भी कर लें; उनके लिये अवश्यम्भावी परिणाम यही होता है, सर्वेश्वर!'

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४)

तुम्हरी भगति अमीरस-सरबर, मोच्छादिक जाके बस निर्झर।
तिहि तजि जे केवल बोध कौं, करत कलेस चित्त सोध कौं॥
तिन कहुँ छिनहीं-छिन श्रम बढ़ै, और कछू न तनक कर चढ़ै।
जैसैं कन बिहीन लै धान, धमकि-धमकि कूटत अग्यान॥
फल तहँ—बिरथ यहै दुख भरै, खोटक हाथनि फोटक परै।

× × ×

त्यागि भक्ति तव, मूढ़ नर ग्यान हेतु दिन-राति।
करै जतन, पचि-पचि मरै, लहै न कबहूँ सांति॥
भक्ति-सरोबर अति गंभीरा।
झरना अमित झरैं तेहि तीरा॥
ऐसी सरस भक्ति सुखदानी।
तेहि तजि अपर ठाम रुचि मानी॥
तासु सकल श्रम बिफल गुसाँई।
श्रुति पुराण संतत इमि गाई॥
जिमि कोउ अल्प धान्य कौं त्यागी।
धान-अभास घनौ अनुरागी॥
कंडन करै ताहि, रुचि मानी।
लहै न अन्न, सहै दुख खानी॥
तिमि तव भक्ति त्यागि नर मूढ़ा।
सहै कोटि दुख मोह-अरूढ़ा॥

'भक्तिकी यह महिमा कथनमात्रके लिये हो—ऐसी बात नहीं है, नाथ!' वेदगर्भ प्रमाण देने लगते हैं—'अपितु, अतीतके अगणित संतोंका जीवन इस सत्यको प्रत्यक्ष कर दे रहा है। हे भूमन्! अपरिच्छिन्न प्रभो! तुमसे छिपा ही क्या है, तुम सम्पूर्णतया सब कुछ जानते हो। मेरे द्वारा निर्मित इस जगत्के प्रवाहमें एक नहीं, बहुत-से योगिगण हो चुके हैं, जिन्होंने योगके, ज्ञानके साधनोंको अपनाया था, साधनकी चरमोत्कर्ष दशामें वे अवस्थित भी हो चुके थे; फिर भी ज्ञानकी ज्योति नहीं जग सकी, हृत्तल आलोकित

नहीं हो सका ज्ञानसूर्यकी रश्मियोंसे। और तब वे लौटे इस पथसे तथा भक्तिमार्ग—राजमार्गका अवलम्बन लिया उन्होंने। अब उनके जीवनकी धारा तुम्हारी ओर बह चली, समस्त इन्द्रियोंका व्यापार होने लगा तुम्हारे उद्देश्यसे ही, उनकी सब चेष्टाएँ समर्पित होने लगीं तुम्हें ही। इस कर्म-समर्पणने शीघ्र ही मनका मैल धो दिया, तुम्हारी कथा सुननेके प्रति आदर जाग उठा तथा संतसमागमका सौभाग्य लाभकर वे सतत तुम्हारी कथा-सुधामें ही निमग्न रहने लगे। कथामृत-पानके अनिवार्य परिणामस्वरूप भक्तिका उन्मेष हुआ ही। फिर तो स्वरूप-ज्ञान होनेमें विलम्ब ही क्या था, वह तो स्वतः हो गया। इस प्रकार अनायास अतिशय सुगमतासे उन्होंने तुम्हारे परमपदकी प्राप्ति कर ली। हे अच्युत! सर्वथा उचित ही है ऐसा होना; तुम्हारी भक्तिका आश्रय कर लेनेके अनन्तर कोई भी व्यक्ति अभीष्ट-सिद्धिसे च्युत हो जाय, यह सम्भव जो नहीं।'

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ५)

हौ प्रभु! पाछे बहुतक भोगी, तजि-तजि भोग भए भल जोगी।
दिढ़ अष्टांग जोग अनुसरै, ग्यान हेतु बहुतै तप करै॥
अति श्रम जानि तहाँ तैं फिरै, तुम कहुँ कर्म समर्पन करै।
तिन करि सुद्ध भयौ मन मर्म, तब कीने प्रभु तुम्हरे कर्म॥
कथा-श्रवन करि पाई भक्ति, जाके संग फिरत सब मुक्ति।
ता करि आत्मतत्त्व कौं पाइ, बैठे सहज परम गति पाइ॥

× × ×

हे भूमन! पूरब जे जोगी।
तजि गृहादि-सुख, भए बियोगी॥
करि बहु जतन ग्यान हित भारी।
मिलेउ ग्यान नहिं भए दुखारी॥
पीछें निज ईहा सब जेती।
तुमहि समर्पहिं मन-बच तेती॥

सुनि तव कथा भक्ति हियँ आई।
जान्यौ आतम रूप बनाई॥
ते नर सहज प्रयास बिनु, मुक्ति लहैं सुखकंद।
परैं न भवनिधि माहिं पुनि, मिटैं सकल जग-द्वंद॥

इतना कह लेनेके अनन्तर स्रष्टाके नेत्र, मन, प्राण पुनः व्रजराजकुमारके नवजलधर-श्यामल श्रीअङ्गोंकी सौन्दर्यराशिमें, चिदानन्दमय श्रीविग्रहके अनन्त अपरिसीम पारावारविहीन महिमामें ही डूबने-उतराने लगते हैं। प्राणोंके कण-कणसे झङ्कृत हो उठता है—'सर्वथा अज्ञेय है यह महिमा, व्रजराजकुमारका यह स्वरूप!' इसी समय सहसा पद्मयोनिके मनमें, बुद्धिमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके निर्विशेष स्वरूपका स्फुरण हो जाता है—मानो ओर-छोरविहीन रससिन्धुमें बहते हुएको एक सुदूर देशमें ज्योतिर्मय, चिन्मय तटकी रेखा-सी दीख जाय! पर यह स्वरूप भी ज्ञेय थोड़े है। इसमें भी 'अथ'-'इति' जो नहीं। इसे भी कैसे जाना जाय। फिर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'—'आत्माका दर्शन करे, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'—मनके द्वारा बारंबार आत्माका अनुसंधान करे, इन श्रुतियोंका क्या तात्पर्य है?—इस प्रकार वेदगर्भके मनमें मानो शङ्का जागी और इसका स्वयं समाधान करते हुए अपने इस निर्णयको भी व्रजेन्द्रनन्दनके पादपद्मोंमें निवेदन करनेयोग्य वस्तु समझकर वे कह उठते हैं—'प्रभो! अज्ञेय हैं तुम्हारे दोनों स्वरूप ही—सविशेष (सगुण), निर्विशेष (निर्गुण), दोनों ही नहीं जाने जा सकते, नाथ! तथापि निर्विशेषकी महिमाका प्रकाश इन्द्रियोंका प्रत्याहार किये हुए मनीषियोंके सम्यक् शुद्ध चित्तमें हो सकता है, स्वामिन्! किंतु तुम्हारी यह अभिव्यक्ति चिदाभाससे होनेवाले प्राकृत वस्तुके ज्ञानके समान नहीं है, नहीं हो सकती। यह तो तुम अपनी स्वप्रकाशताशक्तिसे ही आत्माकार हुए चित्तमें प्रतिभासित होने लगते हो, प्रभो! जब इन्द्रियोंका प्रत्याहार हो जाता है, विषयोंसे वे हटा ली जाती हैं, विषयोंसे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, तब चित्तकी विषयाकारता भी मिट जाती है। यह स्थिति ही—चित्तका विषयाकार न रहना

ही—आत्माकारता है। इस प्रकार सर्वविध विकार एवं विषयसम्बन्धसे शून्य, आत्माकार हुए चित्तमें ही तुम्हारे स्वप्रकाश निर्विशेष स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है, हो सकती है; नाथ! आत्माकार चित्तवृत्तिमें तुम्हारा यह निर्विशेष स्वरूप प्रकाशित हो जाता है, इस कारण यह ज्ञेय है और चिदाभाससे यह प्रकाशित होनेका ही नहीं, इसीलिये यह अज्ञेय है, भूमन्!'*

तथापि भूमन्! महिमागुणस्य
ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ६)

लछिमी जदपि नित्य उर रहै, सो पुनि तनक कबहुँ नहिं लहै।
जाके रूप न रेख न क्रिया, तिहि लालच अवलंबै हिया॥
तदपि केई तजि-तजि सब कृत्ति, निर्मल करत चित्त की वृत्ति।
सहजहिं सून्य समाधि लगाइ, लेत हैं तामें तुम कौं पाइ॥

× × ×

अगुन रूप जो अहै तुम्हारा।
तासु ग्यान कोउ लहै उदारा॥
सगुन रूप तव गुन बहु भारे।
लहैं न कोउ, इमि बेद उचारे॥
गुनातीत तव रूप अनूपा।
इंद्रीजित जानै सुखरूपा॥

'किंतु इसी प्रकार तुम्हारे सगुण स्वरूपकी

* वस्तुका ज्ञान होनेके सम्बन्धमें शास्त्रीय सिद्धान्त यह है—जगत्में सर्वत्र स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे जो चैतन्यसत्ताकी अभिव्यक्ति होती है, इसीको शास्त्रीय भाषामें 'चिदाभास' कहते हैं। इस चिदाभास एवं इन्द्रियसे जुड़े, विषयाकार हुए चित्तके द्वारा ही जीवोंको यह ज्ञान होता है कि यह घड़ा है, यह कपड़ा है इत्यादि। सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह ज्ञान ऐसे होता है—जिस समय नेत्र आदि इन्द्रियोंके साथ घड़ा आदि विषयोंका सम्बन्ध होता है, उस समय अन्तःकरण—चित्त, नेत्र आदि इन्द्रियोंकी राहसे निकलकर, जहाँ घड़ा आदि विषय अवस्थित रहते हैं, वहाँ चला जाता है; जाकर घट आदि विषयोंके आकारमें परिणत हो जाता है, ठीक उन-उन विषयोंका आकार धारण कर लेता है। इस परिणामको ही 'वृत्ति' नामसे कहते हैं, 'चित्तकी विषयाकारता' भी इसीका नाम है। इसी 'वृत्ति' में प्रतिबिम्बित जो चिदाभास है, उसे शास्त्रकार 'फल' नाम दे देते हैं। अब जिस समय चित्त घटाकार वृत्तिके रूपमें बन जाता है, उसी समय घटके आवरक अज्ञानका नाश हो जाता है अर्थात् उस घटरूप विषयके सम्बन्धमें जो अज्ञान रहता है, वह दूर हो जाता है; तथा वहाँ स्थित जो चिदाभास है, जिसे 'फल' भी कहते हैं, उसके द्वारा घड़ा प्रकाशित कर दिया जाता है। दार्शनिक दृष्टिसे इतनी क्रिया हो जानेपर ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह घड़ा है'। इसी प्रकार इन्द्रियोंके समस्त विषयोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। संक्षेपमें कहनेपर यह कि घड़ा, कपड़ा, मकान आदि किसी भी जागतिक वस्तुका ज्ञान प्राप्त होते समय जीवकी चित्तवृत्तिके द्वारा तो केवलमात्र उस विषयका अज्ञान दूर होता है; किंतु वस्तुको प्रकाशित कर देनेके लिये चिदाभास अपेक्षित है ही। जगत्की जितनी जड वस्तुएँ हैं, उनका स्फुरण चिदाभासकी सहायतासे ही होता है; किन्तु सच्चिदानन्द वस्तु इस चिदाभाससे प्रकाशित नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानमें यह बात है कि वहाँ आवरक अज्ञानका नाश होनेके लिये वृत्तिव्याप्तिमात्र—केवल चित्तकी आत्माकारता, ब्रह्माकारता ही अपेक्षित है; चिदाभास नहीं। हमें उन्मुक्त आकाशमें प्रकाशित सूर्यके दर्शन हो जायँ, इसके लिये आँखें खोल लेनेकी तो नितान्त आवश्यकता है; किंतु सूर्यको देखनेके लिये दीपकके प्रकाशका कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मका स्फुरण होनेके लिये चित्तकी आत्माकारता तो नितान्त आवश्यक है, किंतु चिदाभासका वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। नेत्र खोल देनेपर जैसे निर्विशेष तेजोमण्डलरूपमें सूर्यके दर्शन हो जाते हैं, वैसे ही आत्माकार हुए चित्तमें भगवान्के स्वप्रकाश निर्विशेष सच्चिदानन्दस्वरूपके ज्ञानका उन्मेष हो जाता है—

घटादिजडवस्तुज्ञानविषये अन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटाद्याकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासः फलमित्युच्यते। तत्र वृत्त्या घटाद्यावरकमज्ञानं नाश्यते; चिदाभासेन

महिमा भी जान ली जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है, अनन्त!'—स्रष्टा पुनः व्रजराजकुमारके सविशेष स्वरूपके वैभवका ही सम्पुट देते हुए-से बोल पड़ते हैं। अनन्त अप्राकृत कल्याणगुणनिलय तुम सदा सबके लिये अज्ञेय ही बने रहते हो। तुम्हारे दिव्य स्वरूपभूत गुणोंकी थाह आजतक किसने पायी है, प्रभो! विश्वके कल्याणके लिये ही तो तुम्हारा यह अवतरण हुआ है, नाथ! इससे पूर्व भी न जाने कितने भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये किन-किन रूपोंमें अवतरित होकर अपने अनन्त गुणोंमेंसे कौन-कौन से गुणोंका प्रकाश तुमने किया है, स्वामिन्! जगत्के अनादिप्रवाहमें अनन्त प्राणियोंकी अनन्त भावनाओंसे उपासित होकर, उनके प्रेमसे आकर्षित हुए तुम जब जब यहाँ अवतीर्ण हुए हो, उस समय तुम्हारे कारुण्य, भक्तवत्सल्य आदि अनन्त गुणोंका कैसी, कहाँ किस रूपमें अभिव्यक्ति हुई है—इसे कौन जानता है, विभो! तुम्हारे गुणगणोंकी गणना किसके द्वारा सम्भव है, नाथ! महाशक्तिसम्पन्न शेष एवं सनकादि योगीश्वरगण दीर्घकालके परिश्रमसे पृथ्वीके धूलिकणोंकी, आकाशके हिमकणोंकी एवं सूर्य नक्षत्रादिके किरणपरमाणुओंकी भी गणना कर लेनेमें जो सामर्थ हो चुके हैं, उनमें भी ऐसी किनकी सामर्थ्य है, जो तुम्हारे अनन्त कल्याणमय गुणोंको गिन डालें, भगवन्!'

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ७)

पै यह सगुन सरूप तुम्हारौ।
हौं मन खोयौ जात हमारौ॥
ये अद्भुत अवतार जु लेत।
बिस्वहि प्रतिपालन के हेत॥
नाम, रूप, गुन, कर्म अनंत।
गनत-गनत कोउ लहै न अंत॥
धरनी के परमान जितेक।
हिमकन उडुगन गगन तितेक॥
कालहि णइ निपुन जन कोइ।
तिनहिं गनै, अस समरथ होइ॥
ऐ परि सगुन रूप-गुन जिते।
काहू पै कहि परत न तिते॥
× × ×
यह सख्यात सगुन बपु देवा।
नहिं कोउ जानि सकै तव भेवा॥
गुन अचिन्त्य महिमा सुखसागर।
जग पालन कारन ब्रजनागर॥
तव गुन गनि न सकैं सत सेषा।
जिन कें बहुमुख अहैं असेषा॥
भू-रज, गगन ऋक्षगन जेते।
बरषा बूँद परैं कन केते॥
हिम-कन ब्यूह जहाँ लगि आही।
गनै निपुन कोउ अति चित चाही॥
बिपुल काज करि गनै कोउ ब्योम किरन परमानु।
तद्यपि तव गुन गनन कोउ नहिं समर्थ जग जानु॥

यह कहते-कहते ही स्रष्टाके मनमें भक्तिका स्रोत उमड़ चलता है। व्रजराजकुमारके कल्याणमय गुणोंकी स्मृति आत्मसमर्पणके भावोंको उद्बुद्ध कर देती है और वे कहने लगते हैं—'अतएव हे करुणावरुणालय!

फलाख्येन घटः प्रकाश्यते। ततोऽयं घट इत्यादि ज्ञानं जायते। अतो घटादिस्फुरणार्थं फलव्याप्तिरपेक्ष्यते। ब्रह्मविषये तु आवरकाज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिमात्रमपेक्ष्यते। ब्रह्माकारवृत्तौ जातायां ब्रह्मस्फुरणार्थं तु रविदर्शनार्थं दीपापेक्षेव चिदाभासापेक्षा नास्ति, ब्रह्मणः स्वयंप्रकाशत्वात्; एतदर्थं संग्रहश्लोकौ च—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता। स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभासस्तत्र युज्यते॥
(अन्वितार्थप्रकाशिका)

आवश्यकता नहीं है तुम्हारे गुणगणोंकी गणना करनेकी। बस, किसी प्रकार तुम्हारी अनन्त कृपामयतापर विश्वास हो जाय; समयपर प्राप्त हुए सुख-सम्पत्तिके समुदायमें, दुःख-दारिद्र्यके झंझावातमें समानरूपसे सतत तुम्हारी कृपाकी निराविल धाराके ही दर्शन होने लगें; और कदाचित् यह न हो सके तो तुम्हारी अनुकम्पाकी प्रतीक्षा ही जाग्रत् हो जाय—'कब प्रभुकी कृपा मुझपर ढलक पड़ेगी' इस ओर ही दृष्टि केन्द्रित हो उठे; चातक जिस प्रकार निर्झरकी, सरिताकी, सागरकी, वारिधाराकी ओरसे मुँह मोड़कर एकान्त मनसे स्वातीबूँदोंकी ही प्रतीक्षा करता है; तृषाकी ज्वालासे उस विहंगमके प्राण भले झुलस जायँ, पर अपने अभिलषित मेघके अतिरिक्त किसी भी अन्य ओर वह ताकता ही नहीं—'**सम्यगीक्षमाणश्चातकवृत्तिरित्यर्थः**' *; इस प्रकार सबकी आशा परित्यागकर तुम्हारी कृपाकणिकाको पा लेनेकी उत्कण्ठा प्राणोंमें निरन्तर जाग्रत् हो जाय; तथा जबतक तुम्हारी उस कृपाकी अनुभूति न हो, तबतक घोर तप आदिसे शरीर क्षीण करनेके बदले जन्मान्तरमें अपने ही अर्जित विविध कर्मफलोंको, प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखरूप भोगोंको विकृतिशून्य, अम्लानचित्तसे भोगते रहनेकी वृत्ति उदय हो जाय; साथ ही तुम्हारी स्फूर्ति होते रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, गद्गदवाणीसे, रोमाञ्चित हुए शरीरसे अपने-आपको तुम्हारे चरणसरोजोंमें समर्पित करते रहनेकी भावना अखण्डरूपसे बनी रहे—जीवन इस उपर्युक्त दिनचर्याके साँचेमें ही ढल जाय, जो कोई भी अपना ऐसा जीवन बना ले, नाथ! फिर तो वह तुम्हारे चरणसेवाधिकारको पा लेनेका अधिकारी बन ही जाता है, प्रभो! जीवित पुत्र पितृसम्पत्का अधिकारी हो जाय—इसमें आश्चर्य ही क्या है, भगवन्! वञ्चित तो वे होते हैं, जो मृत पुत्र हैं, पतित पुत्र हैं अथवा पोष्य पुत्र हैं। तुम विश्वपिताकी संतान ही तो जगत्के ये असंख्य जीवगण हैं। इनमें तुम्हारे पाद-पङ्कजका भजन जिनके जीवनका अवलम्बन है, वे ही तो वास्तवमें जीवित हैं, उनका ही जीवन-धारण सफल है, वे ही तुम्हारे चरणसरोरुहकी सेवारूप महासम्पद्के अधिकारी हैं, स्वामिन्! तथा जो तुमसे विमुख हैं, वे तो मृत ही हैं। भस्त्रा—धौंकनीमें भी तो वायु आती-जाती है। तुम्हारे चरणोंसे पराङ्मुख रहनेवाले प्राणियोंका श्वास लेना ठीक ऐसा ही है, देव! व्यर्थ है इनका जीवन—

'**दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधाः।**' †

अथवा ये पतित पुत्रकी श्रेणीमें हैं, या तुम्हारी मायाके पोष्य पुत्र हैं, प्रभो! ये पितृसम्पत्के अधिकारसे वञ्चित रहेंगे ही, रहते ही हैं। इन्हें कैसे मिले तुम्हारे भवज्वालाहारी पादारविन्दकी शीतल शंतम छाया। और भगवन्! वे तुम्हारे अनुग्रहके अनुभवमें ही निमग्न रहनेवाले अथवा तुम्हारी अनुकम्पाकी ही प्रत्याशा लिये बैठे रहनेवाले, प्रारब्धको निर्विकारभावसे भोगनेवाले, तुमपर ही अपने कायमनोवाक्यसे न्योछावर होकर जीवन धारण करनेवाले भक्तगण कैसे न कृतार्थ हों। बिना परिश्रम बड़ी सुगमतासे ही वे तो हो ही जायँगे तुम्हारे नलिन-सुन्दर श्रीचरणोंकी सेवा-प्राप्तिरूप महासम्पत्के दायभागी (अधिकारी)। उनके अनादि संसरणका अन्त हो जाय, भवबन्धनसे वे मुक्त हो जायँ—तुम्हारे चरणाश्रयका यह आनुषङ्गिक फल भी उन्हें मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, नाथ!

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

तातैं तव भगतिहि अनुसरै।
तुम्हरी कृपा मनायौ करै॥
कब मो पर नँदनंदन ढरिहैं।

* श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्।

† वेदस्तुति श्रीमद्भा० १०। ८७। १७।

मधुर कटाच्छ चितै, रस भरिहैं॥
निज प्रारब्ध कर्म-फल खाइ।
अनासक्त, नैक न ललचाइ॥
अरु अति तप कलेस नहिं करै।
श्रवन-कीर्तन रस संचरै॥
इहि बिधि जियै सुभागहि पावै।
मरयौ कहा कोउ झगरन आवै॥

× × ×

एहि ते हे जगदीस, भक्ति सुगम तव जीव कहुँ॥
अपर न मोहि कछु दीस, भक्ति बिना हे नंदसुत॥
जो नर चतुर होइ जग कोई।
तव कटाच्छ चाहै मन सोई॥
कब कटाच्छ करिहैं जदुनाथा।
यह बंछै नित सुनि हरि-गाथा॥
निज अर्जित जे कर्म पुराने।
भल अरु मंद किए जग जाने॥
तस फल लहै, करै सो भोगा।
अनासक्त भोगै बिनु सोगा॥
अति कलेस तप आदिक त्यागी।
तव पद संतत है अनुरागी॥
एहि बिधि जे जीवत हैं प्रानी।
भए मुक्तिभागी ते जानी॥

भक्तिरससे सिक्त हुए मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका यह एक स्वाभाविक लक्षण है—मानका सर्वथा अभाव होकर सच्चे दैन्यका संचार हो जाय, अपनी हीनताका, दोषमयताका भान होने लगे। पितामह इसी स्थितिमें आ पहुँचे हैं।

इसके अतिरिक्त व्रजराजकुमारके अमृतस्यन्दी अधरोंपर एक स्मित नित्य विराजित रहता है, उनके दृगोंमें एक विचित्र स्पन्दनकी रेखा-सी सतत रहती है। कब क्या अर्थ रखते हैं ये—इसका अन्त आजतक किसीको मिला ही नहीं! हाँ, भावदर्पणमें इन स्मित एवं स्पन्दनकी छाया पड़ती है; तथा दर्पणके अनुरूप ही इस छायासे प्राणोंमें कुछ-न-कुछ अभिनव संकेत झर पड़ता है। प्रत्येकके लिये प्रत्येक झाँकीमें ही। यही बात पद्मयोनिके लिये हुई। उन्होंने देखा श्रीकृष्णचन्द्रके चारु-चञ्चल नयनोंकी ओर, मन्दस्मितकी ओर तथा देखते ही उनके मनने इस बार एक नया अर्थ ले लिया उनसे। ये मानो कह रहे हों—'पितामह! मेरे भक्त तो तुम भी हो, अतः मेरे महासम्पत्के 'दायभाक्' भी तुम हो ही।' फिर तो वेदगर्भ व्याकुल हो उठे इस भावनासे। अपनी दीनता, तुच्छता, व्रजराजकुमारके असमोर्ध्व ऐश्वर्यकी स्फूर्ति, उनके प्रति किये हुए अपराधकी स्मृति, आत्मग्लानि—एक साथ अनेक भावोंका प्रवाह बह चला उनके अन्तस्तलमें। इसीलिये स्तवनकी धारा भी बदल गयी और वे कहने लगे—'ओह! प्रभो! भक्त मैं नहीं हूँ, नाथ! होता तो मेरे द्वारा ऐसी धृष्टता नहीं होती; मैं ऐसी मूढ़ता नहीं कर बैठता। स्वयं देख लो, अन्तर्यामिन्! मेरी दुर्जनोचित चेष्टाकी, मूढ़ताकी सीमा नहीं रही है। तुम सर्वकारणकारण हो, इस नाते एवं साक्षात् सम्बन्धसे भी तुम मेरे पिता हो। तुम्हारे नाभिकमलसे ही तो मैं उत्पन्न हुआ हूँ, देव! भला, अपने पिताके प्रति—सो भी उस समय, जब वे सुखपूर्वक अपने सहचरोंके साथ भोजनपर बैठे हों—ऐसा अपराध करनेवालेसे बढ़कर दुर्जन और कौन होगा? और मेरी मूर्खताका तो कहना ही क्या है! देखो सही, तुम अनन्त अपरिच्छिन्नैश्वर्य हो; तुम्हारे स्वरूप, ऐश्वर्य, महिमा आदिका अन्त नहीं, तुम्हारा सब कुछ अपरिसीम है। परमात्मा हो तुम—नियामकरूपसे, सर्वत्र सबके बाहर-भीतर अवस्थित हो; आत्माओंके भी आत्मा हो तुम। इतना ही नहीं, तुम सर्वमायाधीश हो, स्वामिन्! शेष, शंकर आदि भी तुम्हारी मायासे विमोहित हो जाते हैं। भला, ऐसे महामहिम सर्वकारणकारण, सर्वनियन्ता, सर्वमायापति तुमपर अपनी मायाका विस्तार करने चला था मैं, तुम्हें अपनी मायासे मुग्ध करके तुम्हारे वैभवका दर्शन करनेकी इच्छा की थी—नहीं-नहीं, देवसमाजके समक्ष अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करने गया था, 'अखिल

ब्रह्माण्डनायक स्वयं भगवान्‌को भी पितामहने अपनी मायासे मुग्ध कर दिया'—इस सुयशका प्रसाद—इस रूपमें अपने ऐश्वर्यका दर्शन करने गया था। ओह! इस मूढ़ता—महामूढ़ताकी भी कोई सीमा है? तुम्हारी तुलनामें मेरा अस्तित्व ही क्या है, नाथ! प्रज्वलित अग्निपुञ्जके सामने उसीसे उत्थित एक स्फुलिङ्गकणकी भी कहीं गणना होती है? इतने महान् हो तुम और इतना तुच्छातितुच्छ हूँ मैं! फिर भी मेरी ऐसी कुटिलता! क्या कहूँ, प्रभो!'

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ९)

देखु नाथ! दुर्जनता मेरी।
महिमा चह्यौं चह्यौं प्रभु केरी॥
अगिनि तैं बिस्फुलिंग ज्यों जगै।
अगिनिहि बिभव दिखावन लगै॥
पटबिजना ज्यौं पंख डुलाइ।
लयौ चहत रबि-मंडल छाइ॥
और सुनहु, प्रभु! उपमा आछी।
गरुड़हि आँखि दिखावै माछी॥
× × ×
देखहु ईस दुष्टता मोरी।
छमा कहाँ लगि बरनौं तोरी॥
तुम मायिक के ईस, नियंता।
पुनि माया पति हरि भगवंता॥
मैं मति मंद अल्प निज माया।
सो प्रभु कौं मैं आनि देखाया॥
ता करि तव ऐश्वर्य मैं, देखन चहौं अनंत।
किमि देखौं मैं मूढ़ मति, तव महिमा कौ अंत॥

'परंतु जो महान् हैं, वे कहाँ देखते हैं छोटोंके अपराधोंकी ओर।'—पद्मयोनि व्रजेन्द्रनन्दनसे क्षमा-याचना करते हैं। 'और फिर उनके द्वारसे क्षमादानके लिये अञ्चल फैलानेवाले कभी निराश लौटें, यह तो असम्भव है। अतएव, हे अच्युत! तुम भी मुझे क्षमा कर दो। अपनी अनन्त कृपामयताके स्वरूपसे तुम कदापि स्खलित नहीं हो सकते, इस शाश्वत सत्यकी आशासे मैं भी अञ्जलि बाँधे तुम्हारे श्रीचरणोंकी शरणमें आया हूँ, भगवन्! तुच्छ-से-तुच्छ हूँ मैं और तुम महान्‌से भी सुमहान् हो। मेरे-जैसे नगण्यके द्वारा किये गये अपराधोंकी ओर, हे महामहिम! तुम दृष्टिपात मत करो। सच तो यह है, स्वामिन्! मेरी-सी स्थितिमें अवस्थितके द्वारा अपराध न होंगे तो और होंगे ही क्या? देखो न, रजोगुणसे तो उत्पन्न हुआ हूँ मैं, रजोमयी सृष्टिके निर्माणमें ही सतत निरत रहता हूँ। प्राकृत रजमें तमका अंश न रहे, यह सम्भव नहीं। इसलिये तमकी छाया भी मुझपर रहेगी ही, तमोगुणजनित अज्ञता भी मेरी चिरसङ्गिनी बनी ही रहेगी। यही कारण है—मैं तुम्हारे स्वरूपको नहीं देख सका, नहीं जान पाया। तथा इसीका परिणाम है कि अपने-आपको तुमसे पृथक् ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, संसारका स्वामी मान बैठा था। ओह! प्रभो! क्या दशा हो गयी थी मेरी!' मैं अजन्मा जगत्कर्त्ता हूँ—इस मायाकृत मदके घनीभूत अँधेरेसे गाढ़—तमोमय आवरणसे मेरी आँखें अंधी हो चुकी थीं! कैसे मैं देख पाता तुम्हें? ऐसी तमोमयी स्थितिमें मुझसे अपराध बने हैं, नाथ! बस, अब तो अपनी करुणाका चन्द्रोदय हो जाने दो; मेरे मदका अन्धकार सदाके लिये विलीन हो जाय उस परम दिव्य शुभ्र ज्योत्स्नामें, और मैं सतत देख सकूँ तुम्हें, सर्वेश्वर!

'मयि त्वत्कारुण्यचन्द्रोदयेनैव मदूर्वतमस्यपहृते सति त्वं दृश्यो भविष्यसि नान्यथेति भावः'

—सारार्थदर्शिनी।

साथ ही घटित अपराधोंके लिये क्षमा-दान दे दो। अपने अतिशय सदयहृदयसे मेरे लिये, हे नाथ! तुम यह सोच लो—'यह भले सबका पितामह है, पर इसका स्वामी तो मैं ही हूँ। मेरे ही आश्रित रहनेसे यह सनाथ है! मुझसे उपेक्षित हो जानेपर इसका कोई अन्य रक्षक नहीं, इसके लिये कहीं

तनिक भी स्थान नहीं। इसलिये यह मेरा भृत्य मेरी कृपाका पात्र है ही, इसपर मेरी अनुकम्पा होनी ही चाहिये।'—यह विचारकर, हे कृपासिन्धो! अपनी करुणा उच्छलित हो जाने दो मेरे लिये। बह चलूँ मैं तुम्हारी करुणाकी इन ऊर्मियोंमें। मेरे समस्त अपराध धुल जायँ इस निर्मलतम प्रवाहमें—

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १०)

अब कहत कि मेरी अपराधु।
छमा करहु, हौं निपट असाधु॥
रज गुन तैं उपज्यौ अग्यानी।
तुम तैं भिन्न ईस अभिमानी॥
मायामद उनमद ह्वै गयौ।
सूझ न कछू, अंध तम छयौ॥
यातैं अनुकंपा ही करौ।
भृत्य जानि, कछु जीय न धरौ॥

× × ×

वैगुन छमहु मोर हे ताता।
कृपासिंधु तुम, सब जग त्राता॥
रजगुन-संभव मैं मति-हीना।
पृथक ईस मानी अति दीना॥
अति अजान तें किय अपराधा।
दीनबंधु! तव कृपा अगाधा॥
अजारूप तम छाएउ लोचन।
सूझ न कछु मोहि, हे भवमोचन॥
जद्यपि अपर ठाम यह नाथा।
तदपि दास मम श्रुति यह गाथा॥
एतनौ जानि चूक सब मेरी।
छमा करहु पद-किंकर हेरी॥

पितामहका दैन्यभाव गभीर, गभीरतर हो चला। वे अनुभव करने लगते हैं—'व्रजेन्द्रनन्दनसे क्षमायाचना करनेका भी अधिकार मुझे नहीं है—इतना तुच्छ, नगण्य हूँ मैं!' और इसी आवेशमें वे अपनी क्षुद्रताका चित्रण कर रहे हैं—'सर्वैश्वर्यनिकेतन! स्वामिन्! कहाँ तुम, और कहाँ मैं हूँ! एक ओर तो मेरा क्षुद्रस्वरूप यह है—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—इन आवरणोंसे वेष्टित ब्रह्माण्डरूप घटमें अपने नापमानसे साढ़े तीन हाथ परिमित शरीरधारी हूँ मैं; और तुम्हारा ही एक रूप वह है, ऐसा है जहाँ तुम्हारे प्रत्येक रोमकूपके छिद्रमें जैसे गवाक्षरन्ध्र (खिड़कीकी जाली)-से सूर्यकी किरणोंमें त्रसरेणु उड़ते दीखते हैं, उस प्रकार—ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंका आवागमन होता रहता है! तुम्हारे नासापुटोंसे श्वास बहिर्गत होते समय रोमकूपोंसे ऐसी असंख्य ब्रह्माण्डराशि प्रकाशित हो उठती है और पुनः प्रश्वासके अन्तःप्रवेशके साथ यह अनन्त अण्डश्रेणी तुम्हारे रोमच्छिद्रोंमें ही प्रविष्ट हो जाती है! यह है तुम्हारी महिमा! कहाँ मेरी यह क्षुद्रता और कहाँ तुम्हारी यह अनन्त महत्ता! मेरे-जैसे नगण्यतमके द्वारा किये अपराधकी ओर तुम सुमहत्तमकी दृष्टि जानेकी भी सम्भावना है या नहीं, यह कौन बताये, नाथ! और यदि कहीं तुमने अपराध माना है तो मुझ तुच्छातितुच्छका अस्तित्व इस योग्य भी नहीं कि क्षमाकी याचनाके लिये तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो सकूँ, स्वामिन्! तुम स्वयं अयाचित अनुकम्पा मुझपर कर दो, तभी कृतार्थ हो सकूँगा, देव!

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ११)

कित हौं कित महिमा नाथ की, कहत हौं चींटी हथी साथ की।
प्रकृति, महदहंकार, अकास; वायु, बारि, वसुमती, हुतास॥
समावरन जु यह इक भौन, तुम ही कहौ तहाँ हौं कौन।
सप्त बितस्ति काइ कौं करयौ, रहत बहुत कहाँ धौं परयौ॥
ऐसे कोटि कोटि ब्रह्मंड, तुमरी एक रोम के खंड।
उपजत भ्रमत फिरत नहिं चैन, जैसैं जालरंध्र त्रिसरैन॥

निपटहिं तुच्छ, न काहू लाइक; कृपा करौ, न लरौ, ब्रजनाइक।

× × ×

पूरन ब्रह्म नाथ! तुम एका।
तुम तें यह जग भएउ अनेका॥
तव इच्छा ते अग-जग-रचना।
होत सकल, इमि श्रुति के बचना॥
प्रथम महत मायाकृत भएऊ।
अहंकार गुन कृत त्रय ठएऊ॥
बायु अग्नि जल भू सहित, यह प्रभु अंडकटाह।
अपने सप्त बितस्ति करि, सब काहू कर आह॥
पुनि रचना तेहि माहिं अनेका।
जीव बुद्धि मन कर्म न एका॥
इंद्रीगन बिषया पुनि पाँचू।
तहाँ देवगन हैं पुनि साँचू॥
मरुत पंच बिधि रचित सरीरा।
धातु सप्त पुनि पंच समीरा॥
अरु नारायन नाम तुम्हारा।
नर सब अयन, बेद निरधारा॥
एक अंड कौ मैं अधिकारी।
महा दीन, पुनि अहमिति भारी॥
ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्मंडा।
रोम-रोम तव भ्रमत अखंडा॥
सोउ त्रसरेनु सरिस तहँ सोहत।
ऐसे ईस नाथ मन मोहत॥
मैं तव दास तुच्छ मतिमंदा।
कृपा करहु, हे करुनाकंदा॥

व्रजेन्द्रनन्दनके इस असमोर्द्ध्व ऐश्वर्य एवं अपने नगण्यतम स्वरूपकी स्मृति स्रष्टाके मनमें सहसा एक आशामयी, कोमल, प्रेमिल भावनाका सृजन कर देती है। मानो दैन्यके अनुषङ्गी आशाबन्ध अनुभावकी छाया-सी पड़ जाती है उनके मनपर और वे सोचने लगते हैं—'नहीं-नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर प्रभु मेरी इस चेष्टाको अपराधकी श्रेणीमें ग्रहण करेंगे ही नहीं।' तथा उल्लासमें भरकर वे कह उठते हैं—'अधोक्षज! इन्द्रियोंकी सामर्थ्य नहीं कि वे तुम्हें जान सकें, उनके नियामक तो तुम हो प्रभो! मेरी प्रत्येक स्फुरणाका नियन्त्रण तुमसे ही होता है, नाथ! तुम्हीं निर्णय करो, स्वामिन्! मेरी यह स्फुरणा—जिसे मैं निवेदन कर रहा हूँ—सत्य है या नहीं। हे महामहेश्वर! सोचो तो सही—जननी अपने गर्भगत शिशुके पादप्रहारसे रुष्ट भी होती है क्या? वह अबोध शिशु गर्भमें अवस्थित रहकर अपने पैर उछाल देता है, उसे माता अपराधके रूपमें कदापि ग्रहण करती है क्या? गर्भस्थ शिशुके द्वारा यह चरण-संचालन क्या अपराधकी श्रेणीमें परिगणित होता है, प्रभो! अपितु जिस समय यह पैरोंकी हलनचलनकी गति परिलक्षित नहीं होती, उस समय स्नेहमयी जननी अनिष्टकी आशङ्कासे चञ्चल होने लगती है। इसी प्रकार, नाथ! अनन्त जीवसमुदायको लिये हुए असंख्य ब्रह्माण्ड भी तो तुम्हारे ही विशाल गर्भमें अवस्थित हैं। तुम्हीं बताओ, हे सर्वाधार! 'है' और 'नहीं है'—इन भाव एवं अभाववाचक शब्दोंसे, अथवा स्थूल-सूक्ष्म-कार्य-कारण-द्योतक शब्दोंसे अभिहित कोई भी वस्तु ऐसी है क्या, जो तुम्हारी कुक्षि—कोखके बाहर अवस्थित हो? सब कुछ ही तो तुम्हारे उदरमें, तुम्हारे रोमकूप-विवरमें स्थित है, स्वामिन्! कोई कितना भी अपराध कर ले, पर वह अपराधी आखिर है तुम्हारी कोखका ही शिशु। स्नेहमयी जननीकी भाँति तुम भी उसके अनन्त अपराधोंको नहीं ही ग्रहण करोगे, नाथ! मेरे द्वारा—तुम्हारे ही उदरमें रहनेवाले अबोध शिशुके द्वारा घटित अपराधोंकी ओर भी वात्सल्यमयी माताके समान तुम्हारी दृष्टि नहीं जायगी, दयामय! हे सर्वाधिष्ठान! तुम मेरा भी सब कुछ सहन करोगे ही।'—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १२)

हो प्रभु जैसैं जननी-गर्भ, रहत है निपट अबुध है अर्भ।
कूखि बिषै कर-चरनन तानै, तौ कहा मात बुरौ है मानै॥

तैसैं हौं तव कूखिके माहीं, करत कलोल कछू सुधि नाहीं।

× × ×

मातु-गर्भ बालक जब रहई।
बहु अपराध तहाँ सोइ करई॥
जननी कछु अपराध न माना।
त्यौं सब जग तव उदर सुजाना॥
बाहर किमपि न बस्तु लखाई।
सब तव हृदिगत, हे जदुराई॥
तौ मम अघ छमिये, जग-त्राता।
जननी इव तुम सब जग माता॥

'और विशेषत: यह तो प्रसिद्ध ही है, प्रभो! कि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ।'—पद्मयोनि उसी प्रवाहमें कहते चले गये। 'यह समस्त विश्वप्रपञ्च तो परम्परासे ही तुमसे उत्पन्न हुआ है, नाथ! किंतु मेरा जन्म तो साक्षात् तुम्हींसे हुआ है, देव! उस समयकी बात है—प्रपञ्चका प्रलय हो चुका था; ऊर्ध्व, मध्य, अध:—तीनों लोक, आवरणके सहित ब्रह्माण्ड लीन हो चुका था समुद्रोंके उस महाप्लावनमें, प्रलयकालीन अम्बुराशिमें। तथा उस एकार्णवमें अपने शेषकी शय्यापर श्रीनारायणदेव शयन कर रहे थे। उन नारायणके उदरस्थ नाभिकमलसे ही ब्रह्मा विनिर्गत हुए ये वेदादि-शास्त्रवाक्य निश्चितरूपसे मिथ्या नहीं हो सकते नाथ! नारायणसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, 'नारायणाद् ब्रह्मा जायते'—यह श्रुति एवं—

स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम्।
नाभेर्विनिस्सृतं तस्य तत्रोत्पन्नः पितामहः॥

'सोते हुए श्रीनारायणदेवकी नाभिसे सूर्यके समान प्रभाशाली एक पद्म विनिस्सृत हुआ और वहाँ उस पद्मपर ही पितामह उत्पन्न हुए।'

मार्कण्डेयकी यह उक्ति तथा ऐसे ही अनेक उपाख्यान असत्य नहीं हैं, स्वामिन्! अच्छा, तुम्हीं बताओ, हे सर्वेश्वर! क्या मैंने तुम्हारे नाभिकमलसे जन्म ग्रहण नहीं किया है?

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे
नारायणस्यांदरनाभिनालात्।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा
किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। १३)

अब कहत कि हौं तुम्हरौ चेरौ, तुम तैं प्रगट जनम यह मेरौ।
जब सब लोग चराचर जितौ, प्रलय-उदधि मधि मज्जत तितौ॥
तब हौं तुम्हरी नाभि-कमल तैं, निकस्यौ नहिं इहि उदर अमल तैं।
'कमलज कमलज' मेरौ नाम, मृषा आहि जानै सब ग्राम॥

× × ×

प्रलय समैं सब सिंधु मिलि, होत बारि अति घोर।
ताहि उदक महँ श्रीरमन करत सयन इक ठौर॥
तब तेहि नाभि सुभग तैं कंजा।
प्रगट भयो अति छबि कौ पुंजा॥
तहँ तैं मैं प्रगट्यौ जदुनाथा।
यह श्रुति सत्य गिरा जो गाथा॥
हे ईस्वर! मैं सुत तव जानू।
तुम पितु, मम नाता यह मानू॥
कृपादृष्टि प्रभु! मोहि निहारी।
कीजिय प्रनतपाल सुखकारी॥

पद्मयोनिको प्रतीत हुआ कि कहीं लीलामय व्रजराजकुमार यह न कह दें—'ब्रह्मन्! ठीक है, नारायणपुत्र हो तुम। पर इससे मेरा क्या सम्बन्ध?' इसी आशङ्काका निवारण करते हुए कहते हैं वे—'बताओ अधीश्वर! हे सबके मूलस्वरूप! क्या तुम्हीं नारायण नहीं हो? तुम्हीं हो, नाथ! सभी प्रकारसे 'नारायण' शब्द तुम्हारे लिये ही सार्थक है, स्वामिन्! तुम समस्त जीवोंके आत्मा हो, इसलिये तुम नारायण (नार—जीवसमूह; अयन—आश्रय) हो। अथवा समस्त जीवोंके दर्शन-श्रवण-वचन, गमनादि कार्योंकी प्रवृत्ति तुमसे ही होती है। इसलिये भी तुम नारायण (नार—जीव-समूह; अयन—प्रवृत्ति) हो। अतएव सर्वभूतस्थ तृतीय पुरुषावतारके रूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हीं हो। तुम अखिल लोकके साक्षी हो। इसलिये भी तुम नारायण (नार—जीवसमूह; अयन—ज्ञान) हो; ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी द्वितीय पुरुषावतारके रूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हीं हो,

देव! नर (भगवान्)-से उत्पन्न जलमें अवस्थान करनेके कारण जो नारायण (नार—जल; अयन—निवासस्थान) नामसे प्रसिद्ध हैं, वे कारणार्णवशायी, प्रकृतिके अन्तर्यामी प्रथम पुरुषावतारूपमें अवस्थित नारायण भी तुम्हारी ही मूर्ति हैं, प्रभो! इस रूपमें तुम्हारा कारणार्णव-जलमें अधिष्ठान सुनकर तुम्हारी परिच्छिन्नताका भ्रम हो सकता है, स्वामिन्! किंतु तुम तो नित्य अपरिच्छिन्न हो। सीमाबद्ध वस्तुकी भाँति जलमें तुम्हारा यह शयन होनेपर भी तुम नित्य असीम ही हो। तुममें परिच्छिन्नताकी प्रतीति सत्य नहीं है, भगवन्! यह तो तुम्हारी ही अचिन्त्य मायाशक्तिका प्रभाव है, जो तुम असीम रहते हुए सीमाबद्धकी भाँति, नित्य अपरिच्छिन्न रहते हुए भी परिच्छिन्नके समान अवस्थित रहते हो।'

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १४)

जो कहहु कि वे तौ हम नाहीं, सो वह नारायण जल माहीं।
हमरौ ब्रज बृंदाबन धाम, तहीं जाहु, ह्याँ नहिं कछु काम॥
क्यौं आयौ हमरे ब्रज इहाँ, कहत है बिधि तव बातहि तहाँ।
तुम नहिं नहिं नाराइन स्वामी, अखिल लोक के अंतरजामी॥
नार कहावत जीव जितेक, बहुरि नार यै नीर तितेक।
तिन में नहिंन अयन रावरौ, हो प्रभु! मोहि करत बावरौ॥
नीरहि में नाराइन जोई, हो प्रभु! तुम्हरी मूरति सोई।

× × ×

जो कदाचि इमि कहिय गोसाँई।
रमारवन सुत तैं श्रुति गाई॥
मोहि कहाँ तैं सुत है जासू।
कृपा करिहि तो कहैं सो आसू॥
तहाँ सुनिअ तुम, हे ब्रजनाथा।
तुम नारायन, यह श्रुति-गाथा॥
नार अयन तव कृपानिधाना।
नारायन तुम श्रीभगवाना॥
'नार' सब्द सब जीव कहावै।
तहाँ बास तव पुनि श्रुति गावै॥
जो अधीस! ऐसी पुनि कहहू।
नार-प्रवर्त्तक सो प्रभु चहहू॥
सूत्रधार तुम सबहि नचावत।
नाथ! सकल श्रुति ऐसेंहि गावत॥
जो कदाचि ऐसी कहौ, जन जानै सो नार।
तौ अग-जग जहँ लौं अहै, तुम द्रष्टा निरधार॥
नहिं याकी बितपत्ति सुजाना।
'नार' सब्द जो तुम किय गाना॥
तहाँ कहत ऐसैं अब जानिय।
कहैं बेद मुनि-जन सब गानिय॥
चौबिस तत्व अजा कृति आही।
ता करि अग-जग सकल सुहाही॥
केवल नार अयन जिन कीन्हा।
रमारवन सब कौं सुख दीन्हा॥
सो तुम्हही हौ कृपानिधाना।
अपर न कोउ इमि श्रुति कर गाना॥
अपरिछिन्न नहि मोर सरीरा।
अति प्रकासमय अद्भुत नीरा॥
चर अरु अचर जहाँ लगि जेते।
ओत-प्रोत जग श्रुति हु कहे तें॥
सो जल आश्रय घटै न कबहूँ।
कहै बचन जैसे तुम सबहूँ॥
तहाँ कहत सुनिये मम बचना।
तव माया की सब यह रचना॥
घटै सकल अघटित सब बाता।
तुम अखिलेस सकल जग त्राता॥

'सत्य तो यह है, स्वामिन्! तुम्हारा श्रीविग्रह अपरिच्छिन्न है अथवा परिच्छिन्न है, इन शब्दोंसे वर्णनके योग्य ही नहीं; तुम्हारे स्वरूपतत्त्वको, श्रीविग्रह-रहस्यको कोई वास्तवमें समझ ले, यह सामर्थ्य किसमें है, नाथ! बताओ तो सही, जगदाश्रयभूत तुम्हारा वह श्रीनारायणविग्रह यदि परिच्छिन्न वस्तुकी भाँति जलमें ही अवस्थित है तो उस दिन मुझे उसके

दर्शन क्यों नहीं हुए?'—स्रष्टाको स्मृति हो आयी अपने जन्मकालकी अद्भुत रहस्यमयी घटनाओंकी। वे एक अम्भोरुहकी कर्णिकापर अवस्थित थे। किसी भी लोकका दर्शन उन्हें नहीं हुआ। दर्शन हुए केवल प्रलयकालीन पवनके झोंकोंसे जलकी उछलती हुई तरङ्गमालाओंके एवं अपने आसनभूत उस पद्मके। वे आदिदेव इसका कुछ भी रहस्य न जान सके थे। सोचने लगे थे—'इस कमल-कर्णिकापर आसीन मैं कौन हूँ? और यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके इस जलराशिमें कहाँसे उत्पन्न हो गया? इसके निम्नदेशमें अवश्य ही कुछ ऐसी वस्तु है, जिसपर अवस्थित रहकर यह व्यक्त हुआ है।' तथा यह सोचकर वे कमलनालके सूक्ष्म छिद्रोंके पथसे जलमें प्रवेश कर गये थे, कमलनालका मूल ढूँढ़ने चले थे। बहुत अधिक काल—शतसंवत्सर-परिमित समय व्यतीत हो गया उस अपार अन्धकारमें उत्पत्तिस्थानको खोजते-खोजते। पर निराशामात्र हाथ लगी थी, विफलमनोरथ हुए वे लौटे थे। उस मृणालका मूल वे नहीं ही पा सके। पुनः चले आये अपने आधारभूत उस पद्मासनपर ही। और तब प्राणवायुको जीतकर चित्तको संकल्पशून्य कर लिया उन्होंने, तथा समाधियोगमें स्थित हो गये। दिव्य सौ वर्ष व्यतीत हो जानेपर उन्हें ज्ञानका आलोक प्राप्त हुआ था और फिर तो अपने-आप अन्तर्हृदयमें ही उस अधिष्ठानका प्रकाश हो गया। ओह! कितना अद्भुत दर्शन था वह! उस प्रलय-पयोधिमें मृणालगौर, अत्यन्त विशाल श्रीशेषकी शय्यापर श्रीनारायणदेव शयन कर रहे थे। श्रीशेषके सहस्रों फण तो छत्रके समान फैल रहे थे। शेष-मस्तकपर विराजित मणियोंकी प्रभासे सर्वत्र अन्धकारका अस्तित्व विलीन हो चुका था। श्रीनारायणदेवके श्रीअङ्गोंकी शोभाका तो कहना ही क्या था। शरीरकी श्यामल आभा-मरकत-शिलामय पर्वतकी शोभाका तिरस्कार कर रही थी। पीताम्बरका परिधान नीलमहीधरके प्रान्तदेशमें छाये हुए संध्याकालीन पीताभ मेघकी कान्तिको लज्जित कर रहा था। किरीट अपनी प्रभासे स्वर्णिम शृङ्गोंको मलिन कर दे रहा था। रत्नमाला पर्वतके हृद्देशपर बिखरी रत्नराशिकी, मुक्तामाला शैलके वक्षःस्थलपर प्रवाहित जलधाराकी, तुलसीमाला ओषधि-पङ्क्तियोंकी एवं वनमाला सुमन-समूहोंकी शोभाको प्रतिहत कर रही थी। भुजदण्ड वेणुदण्डोंके एवं चरण वृक्षोंके सौन्दर्यको हेय बना दे रहे थे। श्रीनारायणदेवका वह श्रीविग्रह त्रिलोकीका संग्रह किये हुए था, दीर्घ था, विशाल था, अपने अनुरूप परिमाणका ही था। अपने सौन्दर्यसे विचित्र, दिव्य वस्त्र एवं आभूषणोंको भी शोभाशाली बना देनेवाला था—इतना सुन्दर, निरुपम था वह। फिर भी—स्वतः परम रमणीय होनेपर भी—अलंकार धारण किये गये थे उसमें, पीताम्बर एवं विविध आभरणसे भूषित था वह! अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्गोंसे अर्चना करनेवाले भक्तजनोंको कृपापूर्वक समस्त मनोरथ दान करनेवाले अपने पादपङ्कजोंका दर्शन करा दे रहे थे वे प्रभु! स्पष्ट दर्शन हो रहे थे चरण-सरोरुहके! उनकी नख-चन्द्रिकासे उद्भासित हो रही थीं कमलदलसदृश अङ्गुलियाँ! अद्भुत थी वह नख-चन्द्रिका और अद्भुत थे वे अङ्गुलिदल! सुघड़ नासा, सुन्दर भौंहें, झलमल-झलमल करते हुए कर्णकुण्डल, बिम्बविडम्बि अरुणिम अधरोंकी कान्ति, लोकव्यथाहारी स्मित—इनसे मण्डित हुए अपने मुखारविन्दके द्वारा भक्तजनोंका अभिनन्दन कर रहे थे वे श्रीनारायणदेव। उनका नितम्बदेश कदम्बकिञ्जल्कके समान सुन्दर पीतवस्त्रसे एवं मेखलासे अलंकृत था। वक्षःस्थल श्रीवत्ससे, बहुमूल्य हारसे परिशोभित था। चन्दनवृक्षके समान शोभा थी उन अव्यक्त-मूल प्रभुकी। अमूल्य केयूर, अङ्गद—इनमें उत्तमोत्तम मणिराजि—इनसे परिशोभित उनका विशाल भुजदण्ड ही मानो चन्दनतरुकी सहस्रों शाखाएँ थीं। शेषफणोंसे संवेष्टित स्कन्धदेशकी शोभा भी ऐसी थी, मानो चन्दनवृक्षमें सर्पसमूह लिपटे हों! नागराज शेषके बन्धु वे श्रीनारायणदेव ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो जलसे आवृत एक पर्वत हो। गिरिराज

जैसे विविध जीवसमुदायको आश्रय दान करता है, वैसे ही वे सम्पूर्ण चराचरके आश्रय थे। शेषफणोंको विभूषित करनेवाले सहस्रों किरीट ही मानो स्वर्णिम शैलशिखर थे एवं कौस्तुभ उस गिरीन्द्रके गर्भसे निस्सृत रत्न था। श्रीनारायणके ऐसे विचित्र महिमामय परम शोभाशाली रूपके दर्शन हुए थे स्रष्टाको। मृणालका मूल मिल गया था उन्हें उनके नाभिसरोवरमें और उन्होंने स्तवन किया था उनका। तथा फिर देखते-ही-देखते स्रष्टाको आश्वासन देकर, कुछ आदेश देकर वे नारायणदेव अन्तर्हित हो गये थे। (श्रीमद्भा० ३। ८)

प्रलय-काल कौ सलिल अपारा।
तहाँ कंज प्रगट्यौ बिस्तारा॥
तहँ बिधि तासु करनिका माँहीं।
बैठौ है, तेहि सुधि कछु नाहीं॥
अखिल लोक कौ तत्व यह, कमल-कोस नहिं जानु।
आपुन को जानै नहीं, भुल्यौ भागवत ग्यानु॥
प्रलय काल कौ पौन, ता करि कंपित कंज यह।
जल-तरंग तर गौन, बिसमित मन तहँ बैठि रह॥
अबिदुष तासु बितर्क अनूपा।
कहौं, बिदुर! तैं सुनु सुखरूपा॥
कमल मध्य बैठी सो आपू।
करै तर्क मन बहु संतापू॥
एकाकी मैं कित ते आयौ।
पुनि मन गुनै, कमल ते जायौ॥
कमल कहाँ ते भा यह आही।
एहि अध अधिष्ठान कछु चाही॥
सत पदार्थ कछु है तेहि ठामा।
जहँ ते कंज प्रगट सुखधामा॥
अस बिचारि बिधि आपु तुरंता।
कमलनाल पैठ्यौ बुधिवंता॥
तासु छिद्र गत सो चलि गएऊ।
अधिष्ठान खोजत सो भएऊ॥
बल अनुमान गयौ चलि दूरी।
भयौ महाश्रम अतिसै भूरी॥
हरि ते बिमुख जीव जो कोई।
उद्यम तासु बिफल सब होई॥
सत संबत्सर खोजत फिरेऊ।
अधिष्ठान कतहूँ नहिं लहेऊ॥
निज उपजन कौ कारन जोऊ।
मिलेउ न फिरि आयेउ तब सोऊ॥
पंकज कोस करनिका माहीं।
बैठौ है निबृत्त, सुख नाहीं॥
बैठि तहाँ बिधि जतन करि, जित स्वासा जित बैन।
कीन्यौ चित्त समाधि दृढ, बैठि ताहि सुख-ऐन॥
सत संबत्सर जोग, कियौ बिधाना जतन करि।
भयौ बोध संजोग, तब तेहि उपज्यौ सुख महा॥
पूरब जेहि खोज्यौ बहु काला।
नहिं पायौ फिरि आउ बिहाला॥
सोइ प्रभु अंतर हिय तिन देखा।
भयउ तासु हिय हरष बिसेषा॥
जो देखा उन बरनौं तोही।
दिब्य गुनादि सहित हिय जोही॥
गौर मृनाल अहीस सरूपा।
सोइ बर सज्या सुभग अनूपा॥
तहँ एक पुरुष सयन सुख करई।
रमा रवन तहँ अपर न रहई॥
सो सहस्र फन सुभग सुहावन।
आतपत्र सोइ छबि मन भावन॥
फनि महँ मनि सोइ परम अनूपा।
सोइ किरीट छबि सुखद सरूपा॥
तासु तेज अति परम प्रकासू।
प्रलय नीर कौ तम किय नासू॥
तहँ वह पुरुष सोह छबि कैसौ।
मरकत मनि दुति गिरिबर जैसौ॥
पीत बसन सोहत अति नीकौ।
संध्या-काल अभ्र छबि फीकौ॥
बहु कंचन के सिखर अनूपा।

सोइ किरीट छबि अद्भुत रूपा॥
रतन-समूह सुमन बर सोई।
बनमाला छबि अतिसै जोई॥
अति बिस्तर बपु सोभन-रूपा।
तीनि लोक हिय धरें अनूपा॥
स्वतः देह अति रम्य सोहावन।
अलंकार अंगीकृत पावन॥
ऐसौ रूप लख्यौ बिधि जबहीं।
अति प्रसन्न मन महँ भा तबहीं॥
अभिमत फल चाहै जु कोउ, प्रभु-पद-पंकज सेउ।
बेद बिहित पूजै निपुन, ताहि सकल फल देउ॥
ताहि हेतु पद कंज कछु एक उन्नत से किये।
निरखि होइ सुख पुंज, नख दुति कोटिक इंदु सम॥
बदन अमित छबि को कहि सकई।
मुसुकनि मंद-मंद जत लसई॥
अखिल लोक आरति कौ हरता।
कुंडल-मंडित, जन-सुख करता॥
अरुन अधर बिंबा-दुति-हारी।
सोभन नासा जग-हितकारी॥
सोभन भृकुटी आनँद-कंदा।
पूजक जन कहँ दानि अनंदा॥
जिमि कदंब-किंजल्क सुहावनि।
पीत बास मुनि-जन मन-भावनि॥
धरें नितंब मेखला रूरी।
तासु प्रभा अतिसै गुन भूरी॥
उर श्रीरेख महाछबि छाजै।
हार अमोलिक कंठ बिराजै॥
चंदन-तरु सम भगवत-रूपा।
बरनत पुनि तेहि सुभग अनूपा॥
पीन प्रलंब भुजा बर चारू।
मनि अमोल जुत अंगद सारू॥
भुज सोइ लखहु अमित भट साखा।
चंदन-बृच्छ सरिस तेहि भाखा॥
फल-पुष्पादि सहित अति सोभा।
अंगदादि सोइ लखि मन लोभा॥
भुवन आतमक बृच्छ अनूपा।
है अव्यक्त-मूल सुखरूपा॥
सो अनंत के फननि करि, बेष्टित हैं सब डार।
चंदन तरु के माहिं बहु, सरप करत संचार॥
पुनि प्रभु सुभग सरूप, गिरि की समता करि कहत।
सोभा लखी अनूप, रमारवन कौ बपुष बर॥
सोइ अग-जग कौ ओक अनूपा।
अहै अहींद्र-बंधु सुखरूपा॥
जल-आवृत चहुँ ओर अपारा।
जिमि मैनाक आदि सुखसारा॥
सहस किरीट सुभग अति भारी।
सोइ गिरि-सृंग सरिस सुखकारी॥
मेरु आदि जे गिरि सुखकारे।
तासु गरभ मनि होत सुखारे॥
तिमि प्रभु गरभ कउस्तुभ राजै।
बिधना लखि मन कौतुक भाजै॥
ऐसी श्री जुत प्रभु कहुँ देखी।
बिस्मयजुत हिय भएउ बिसेषी॥
भगवत-नाभी सरसि अनूपा।
तहँ उपज्यौ बनरुह सुखरूपा॥
लोक-सर्ग के हेतु, बिधि-मन चिंता-ग्रसित अति।
देख्यौ रमानिकेतु, तासु लग्यौ अस्तुति करन॥

× × ×

जथासक्ति अस्तुति उन करेऊ।
मनहुँ श्रांत इव चुप है रहेऊ॥

× × ×

बोले प्रभु अगाध बर बानी।
तासु मोह नासक हिय मानी॥

× × ×

बिधि! कल्यान होउ सब तोरा।
मानेहु अग्या सिर धरि मोरा॥

× × ×

हे बिधि! तुम कृतकृत्य सुजाना।

मम हित करहु सृष्टि यह नाना॥
सर्ब बेदमय तनु तव आही।
रचहु त्रिलोकी निज चित चाही॥
× × ×
एहि बिधि बिधना कहँ सकल, करि उपदेस बनाइ।
अंतरहित तेहि छन भए, रमानाथ सुख पाइ॥

—पितामहके मानसनेत्रोंके सामने नाच उठता है अतीतका वह सम्पूर्ण दृश्य और वे व्रजराजकुमारसे निवेदन करने लगते हैं—'प्रभो! तुम्हीं निर्णय दे दो, यदि तुम्हारा वह श्रीविग्रह परिच्छिन्न—सीमाबद्ध होता, जलमें अवस्थित होता तो उस पद्मतन्तुके मार्गसे भीतर प्रवेश करनेपर मुझे क्यों नहीं दीख गया? और फिर किस हेतुसे मेरे श्रान्त हो जानेपर, अपने प्रयाससे उपरत होकर समाधियोगके द्वारा तुम्हारे चिन्तनमें निमग्न हो जानेपर अपने हृदयमें ही उसकी स्फूर्ति हो गयी? मैं स्वयं ब्रह्मा भी उसका अनुसंधान न पा सका, इसलिये उसे अपरिच्छिन्न मान लूँ तो फिर मेरे हृदेशमें ही उसके दर्शन कैसे हो गये? पुनः तत्क्षण ही वह मूर्ति किस कारणसे अदृश्य हो गयी? इन सबका सामञ्जस्य कैसे होगा, स्वामिन्! तुम्हारी अचिन्त्य महाशक्तिसे ही ये सब संघटित होते हैं। अनिर्वचनीय हैं—अचिन्त्य है तुम्हारे श्रीविग्रहका रहस्य, तुम्हारा स्वरूप—बस, इतना ही कहना सम्भव है, भगवन्!'

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १५)

जब हौं कमल-नाल ह्वै गयौं, मन कें बेग, बरष सत भयौं।
जौ तुम जल करि आवृत होते, रहते दुरे कितक लौं मो ते॥
पुनि जब तुमहिं दया करि कह्यौं, तप, तप, सो मैं दृढ़ करि गह्यौं।
तब रंचक तुम हिय मैं आइ, बहुर्‌यौ गए चटपटी लाइ॥
ये तुम्हरी माया की गुरझैं, सब जन अरझे, नाहिंन सुरझैं।

लीलामयकी इच्छा! व्रजराजकुमारका अयाचित कृपादान! अकस्मात् स्रष्टाका मन श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें व्रजरानीके विश्वदर्शनकी घटनासे जा जुड़ता है। वे करामलकवत् देखने लगते हैं इसे। तथा फिर इस भावनासे भावित होकर अपने स्तवनमें इसका भी उद्धरण दे बैठते हैं—'हे मायाधमन! अपने प्रपन्नजनोंके मायाबन्धनको हर लेनेवाले प्रभो! इस अवतारमें ही, अपने व्रजराजनन्दन-स्वरूपकी लीलाका विस्तार करते हुए तुमने जिस अचिन्त्य मायावैभवका प्रकाश किया है, वह कितना रहस्यमय है! व्रजराजमहिषी तुम्हारे मुखविवरका निरीक्षण कर रही थीं। अनन्तकोटिब्रह्माण्डभाण्डोदर होकर भी तुमने बाल्यलीलाके आवेशमें मिट्टी जो खा ली थी। गोपशिशुओंका वह आरोप सत्य है या मिथ्या—इसका तथ्य पा लेनेके लिये वात्सल्यमयी जननीने तुम्हारे मुखके अन्तर्भागकी ओर देखा था और फिर उन्हें जो कुछ दीखा था, वह कितना अद्भुत है, नाथ! सबके लिये प्रत्यक्ष सिद्ध, इस परिदृश्यमान सम्पूर्ण जगत्‌को ही तुमने अपने उदरमें अवस्थित दिखलाया था जननीको। उस समय तुम्हारा मायावैभव कितने विशदरूपमें व्यक्त हुआ था, नाथ! ओह! देखो, सही—तुम्हारे उदरके भीतर भी यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है, इतना ही नहीं, तुम भी वहाँ विराजित हो रहे हो; और फिर यहाँ—उदरके बाहर भी—वैसे-के-वैसे समस्त प्रपञ्च स्फुरित हो रहा है; तुम भी अवस्थित हो रहे हो! व्रजराजमहिषीने स्पष्ट देखा—तुम्हारे उदरके अन्तरालमें चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, कालिन्दी प्रवाहित हो रही है, व्रजपुर है, व्रज-गो-गोप-गोपिकाएँ हैं, व्रजेन्द्रप्रासाद है, उद्यान है, उनके नीलसुन्दर तुम हो, वे तुम्हारा मुखविवर देख रही हैं! ओह, अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, एक-से अनन्त व्रजपुर हैं, एक-से अनन्त उद्यान हैं, एक-से अनन्त उनके नीलसुन्दर तुम हो, एक-सी अनन्त यशोदाएँ अपने नीलसुन्दरका मुखविवर देख रही हैं, मुखमें मृत्तिका-कण ढूँढ़ रही हैं! तथा ठीक भीतरकी भाँति ही तुम्हारे उदरके बाहर भी वैसा ही जगत् प्रकाशित है, उसमें भी तुम हो ही, जननी यशोदा भी वैसे ही मिट्टीका चिह्न तुम्हारे मुखमें खोज ही रही हैं—भला, यह रहस्यमयी घटना तुम्हारी अचिन्त्य महाशक्तिके

वैभवके अतिरिक्त और है ही क्या, स्वामिन्!'—

अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते॥
यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।
तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया बिना॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १६-१७)

अरु अबहीं, याही अवतार।
हो ईस्वर ब्रजराजकुमार॥
जननी कौं माया दिखराई।
चकित भई, अति बिस्मय पाई॥
बिस्व चराचर है यह जितौ।
बाहिर प्रगट देखियै तितौ॥
सो तुम जठर मध्य दिखरायौ।
तहँ इक कौतुक और बतायौ॥
तामें तुम देखे इहि भाइ।
साँट लिऐं डाँटति जसु माइ॥
बिंब मध्य प्रतिबिंब तौ होइ।
जाकौं कहैं-चहैं सब कोइ॥
प्रतिबिंब में बिंब दिखरावै।
माया बिन यह क्यों बनि आवै॥

'और आज अभी-अभी मुझे भी जो तुमने अपनी अपरिसीम महाशक्तिके वैभवका दर्शन कराया है, वह कितना आश्चर्यमय है, स्वामिन्!'—पितामहके स्मृतिपथमें व्रजरानीके विश्वदर्शनकी चर्चाने सजातीय स्फुरणाएँ जाग्रत् कर दीं और वे उन्हें भी व्यक्त किये बिना रह नहीं सके—'इस अद्भुत दर्शनके द्वारा प्रभो! तुमने यह भी दिखला दिया कि यहाँ तुम्हारे अतिरिक्त प्रपञ्चकी भिन्नतया जो प्रतीति है, वह मायाकी क्रीड़ा है। नाथ! जिस समय गोपशिशु एवं गोवत्सोंको मायामुग्ध करके, उन्हें स्थानान्तरितकर मैंने तुम्हारी ओर क्षणभरके लिये दृष्टि डाली तो देखा कि तुम एकाकी व्रजराजनन्दनके रूपमें, मुग्धशिशुकी भाँति उस अरण्यमें विराजित हो, अन्य कोई नहीं हैं तुम्हारे पास। इसके अनन्तर ब्रह्मलोक जाकर अनुतापभरे चित्तसे लौट आनेपर देखता हूँ कि मेरे द्वारा स्थानान्तरित किये हुए उन समस्त गोपशिशु एवं गोशावकोंके रूपमें—और तो क्या, उनके वेणु, विषाण आदिके रूपमें भी तुम्हीं अपने-आपको प्रकटकर क्रीड़ा कर रहे हो, और तब फिर दृश्य बदला—देखते-देखते ही गोपशिशु, गोवत्स आदि सब-के-सब चतुर्भुज ब्रह्माण्डाधिपतिके रूपमें परिणत हो गये और उस समय आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त अखिल चराचर जीवसमूह अपने अधिष्ठातृ-देवताके रूपमें मूर्तिमान् होकर उन चतुर्भुज प्रभुओंकी उपासनामें संलग्न था तथा जितनी चतुर्भुज मूर्तियोंके दर्शन हो रहे थे, उतने-के-उतने—असंख्य ब्रह्माण्ड भी दीख रहे थे। तुमने ही अपने-आपको उन-उन रूपोंमें प्रकाशित किया था और इसके पश्चात् अब तुम्हीं अद्वय, अपरिच्छिन्न नराकृति परब्रह्मरूपसे शेष रह गये हो। इस प्रकार अपने इस चिद्विलासका दर्शन कराकर तुमने स्पष्ट कर दिया कि यहाँ तुमसे भिन्न जगत्की कोई सत्ता नहीं है, सब कुछ तुम-ही-तुम हो, नाथ!'

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद् वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १८)

प्रथमहिं मैं तुम देखे एक।
बहुरयौ बालक-बच्छ जितेक॥
बेनु, बिषान, बेत्र, दल जिते।
है रहे चारु चतुर्भुज तिते॥
पुनि इक-इक ब्रह्मांड के नाइक।
सेवत मो समेत सब लाइक॥
पुनि अति एक-एक छबि बाढ़े।
देखे मैं मनमोहन ठाढ़े॥
तव महिमा-कौतुक जो आहि।
को समरथ, जानै जो ताहि॥

किंतु जो लोग तुम्हारी ऐसी अनन्त अपरिसीम महिमासे अनभिज्ञ हैं, उन्हें तुम कुछ और ही प्रतीत

होते हो, नाथ!'—पितामहके हृदयकी ज्ञानज्योति मानो दीप बनकर अब व्रजराजनन्दनके चरण-नख-चन्द्रका निर्मञ्छन करने बाहर आती है और उसके आलोकमें वस्तुतत्त्वका विश्लेषण होने लगता है—'अज्ञान छया रहता है उन लोगोंपर और इसीलिये, प्रभो! वे तुम्हारे स्वरूपको नहीं जान पाते। उन्हें तुम जड-देहमें अवस्थित जीवके रूपसे ही प्रतीत होते हो। नाथ! तुम्हीं मायाका आवरण डालकर सृजनके समय मेरे (ब्रह्मा) रूपसे, पालनके समय अपने (विष्णु)-रूपसे एवं संहारके समय रुद्रके रूपसे प्रतीत होते हो। हे अचिन्त्यैश्वर्यशालिन्! परमस्वतन्त्र! नानावतारविधायक! वास्तविक जगद्विधाता! जगत्पते! तुम नित्य अजन्मा हो; प्राकृत जीवकी भाँति तुम्हारा कदापि जन्म नहीं होता, नाथ! फिर भी असाधु पुरुषोंका गर्व चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये एवं साधु पुरुषोंको अपनी कृपाकी धारामें निमग्न कर देनेके लिये तुम देव, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी, जलचर आदि रूपोंमें यहाँ अवतरित होते हो। वामन, परशुराम, राम, वराह, मत्स्य, कूर्म प्रभृति रूपोंमें तुम्हारा आविर्भाव होता है। धरापर लीलामन्दाकिनी प्रवाहित होती है। उसके प्रबल प्रवाहमें दुर्मदोंका गर्वपर्वत छिन्न-भिन्न होकर बह जाता है और सत्पुरुषगण सिक्त होते हैं उसकी त्रितापहारी ऊर्मियोंसे। हे भूमन्! भगवन्! सर्वान्तर्यामिन्! योगेश्वर! कौन बताये कि सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, अचिन्त्य महाशक्तिनिकेतन होकर भी तुम ऐसे साधारण देव-ऋषि-पशु-प्रभृति रूपोंमें जन्म ग्रहण क्यों करते हो? कहाँ किस हेतुसे, किस समय, कितनी बार तुम अपनी योगमाया—अचिन्त्य महाशक्तिका विस्तार कर लीला करते हो, को है—यह त्रिलोकीमें किसे ज्ञात है, नाथ! यह जान लेनेमें कौन समर्थ है, स्वामिन्! कोई भी तो ऐसा नहीं कि इसका विवरण बता दे। इसीलिये—तुम्हारे अचिन्त्य योगमाया-वैभवके कारण ही, हे प्रभो! यह बात है कि यह परिदृश्यमान, असत्स्वरूप, स्वप्नाभ, बुद्धिव्यामोहक, अशेषदुःखप्रद सम्पूर्ण जगत् तुम सच्चिदानन्दस्वरूप, अपरिच्छिन्न अधिष्ठानमें मायासे उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहनेपर भी—तुम्हारी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है। वास्तवमें सत्य तो एकमात्र तुम हो, नाथ! तुम परमात्मा हो, पुराणपुरुष हो, स्वयंज्योति हो, अनन्त एवं अनादि हो, नित्य हो, अक्षर हो, पूर्णानन्दमय हो, निरञ्जन एवं निरपेक्ष हो, अद्वय हो, निरुपाधि हो, अमृतस्वरूप हो। जो तुम्हारे इस उपर्युक्त स्वरूपका साक्षात्कार कर लेते हैं, श्रीगुरुदेवरूप सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूपी दिव्यदृष्टि पाकर सब जीवोंके अपने ही आत्मस्वरूप तुमको, परमप्रेमास्पद अपने स्वरूपके रूपमें अनुभव कर लेते हैं—जिनके लिये 'अहम्' के स्थानमें तुम-ही तुम बच रहते हो, वे मिथ्याभूत संसारसागरको गोवत्सपदकी भाँति अनायास पार कर जाते हैं, परमात्मन्! अपने आत्मस्वरूपको यथार्थरूपसे जाननेवालोंके लिये ही तो इस अज्ञानके कारण देह आदिमें अहंता-ममतात्मक यह निखिल प्रपञ्च बन गया है; उन्हें इसकी प्रतीति हो रही है, भगवन्! किंतु जहाँ ज्ञान हुआ कि यह प्रतीति भी सदाके लिये समाप्त हुई। जैसे भ्रान्तिवश रज्जुमें सर्पबुद्धि हो जानेपर सर्पके फन आदि सभी दीख पड़ते हैं, पर भ्रम निवृत्त हुआ, यथार्थ वस्तु रस्सी दीखी कि सर्प एवं उसके फन आदि कुछ भी नहीं रह जाते, प्रभो! यह अहंता-ममतात्मक संसार कल्पित वस्तु ही तो है, नाथ! संसारबन्धन एवं संसारसे मोक्ष—ये दोनों नाम अज्ञानके ही तो रूपान्तरमात्र हैं; अज्ञानसे ही तो इनकी कल्पना हुई है, देव! सत्य एवं ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वसे भिन्न सत्ता ही जो इनकी नहीं है, स्वामिन्! तत्त्वतः मिथ्या हैं ये। सूर्यके स्वरूपमें जैसे न तो दिन है और न रात्रि; वैसे ही विचार करनेपर नित्यज्ञानस्वरूप शुद्ध प्रपञ्चातीत आत्मतत्त्वमें भी न तो संसारबन्धन है और न मुक्ति। यहाँ व्यवहारमें सूर्यके अप्रकाशसे रात्रि है एवं प्रकाशसे दिन है; वैसे ही आत्मस्वरूपके अप्रकाशसे अहंता-ममतात्मक बन्धन है, एवं उसके प्रकाशसे मोक्ष है। अतः इस मिथ्या संसारको तर जानेकी बात भी केवल कथनमात्रके लिये ही है, भगवन्! फिर भी जबतक आत्मस्वरूपके

अज्ञानका अँधेरा है, तबतक यह संसार-बन्धन भी है ही, ज्ञानके प्रकाशसे उसकी निवृत्ति भी अपेक्षित है ही। किंतु आश्चर्य है! ओह! अज्ञ जीवोंकी आश्चर्यजनक भ्रान्ति है! देख लो, नाथ! तुम जो अपने परम प्रेमास्पद आत्मा हो, उसे तो वे पराया मान लेते हैं एवं जो देह आदि सर्वदा अपनेसे पराये हैं, उन्हें आत्मा जानते रहते हैं और इसके अनन्तर वे आत्मानुसन्धान करने चलते हैं बाहरकी ओर! कैसे पा सकेंगे वे तुम्हें, प्रभो! कहाँ मिलेगा उन्हें आत्मप्रकाश। उनके अज्ञानकी निवृत्ति क्योंकर होगी? इसीलिये, हे अनन्त! जगत्के जो विवेकवान् (ज्ञानमार्गी) साधक संत हैं, उनका पथ और ही होता है। वे सर्वात्मस्वरूप तुमको अपने भीतर ही अभिन्न भावसे ढूँढ़ते रहते हैं। उनके ढूँढ़नेकी पद्धति यह होती है—तुम्हारे अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी प्रतीत होता है, उन सबको वे अतथ्य, असार समझकर छोड़ते चले जाते हैं। क्या करेंगे उन्हें लेकर वे, जिनसे तुम्हारा दर्शन न हो? उनकी यह प्रणाली उचित ही है, नाथ! ऐसा करके ही वे तुम्हें जान सकेंगे; क्योंकि यह स्पष्ट है—रज्जुमें यद्यपि सर्प विद्यमान नहीं है, तथापि जिन्हें वहाँ सर्पदर्शनकी भ्रान्ति हो चुकी है, वे व्यक्ति विवेकी होनेपर भी उस सर्पप्रतीतिका अपवाद किये बिना, उसे छोड़े बिना समीपमें ही पड़े हुए उस वास्तविक रज्जुको कैसे जान सकते हैं?'—

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः॥
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥
क्को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्॥
आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा॥
अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥
त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता॥
अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १९—२८)

अज्ञानी जे जड मति कोई।
तुम्हहि न जानत ईस्वर सोई॥
ते इमि गावत जगत कहँ, संभव पालन नास।
अज-गिरीस मिलि जग रचैं, कहहिं न जिनहि प्रकास॥
सुर रिषि तिर्जग रूप, मत्स्य आदि तुमही धरौ।
दुर्मद, बिकट, अनूप, तासु मान-मर्दन करन॥
साधु-अनुग्रह हित सुख-कंदा।
माया गहन करत जदुनंदा॥

धर्म सेतु पालन के हेतू।
कृपा करहु तुम, कृपानिकेतू॥
प्रभु-लीला को लखै बनाई।
गाइ सकै को गुन-समुदाई॥
निज जन त्राण हेतु बहु धारा।
धरहु स्वरूप अनेक प्रकारा॥
नहि त्रिलोक महँ अस कोउ प्रानी।
तव गुन-लीला कहै बखानी॥
कैसें कब केतिक केहिं ठामा।
रचना रचत, नाथ! अभिरामा॥
यह जग असत असेष बिधि, सपन-सरिस कह बेद।
या महँ सुख रंचक नहीं, अति दुख संतत खेद॥
तुम तें संभव होइ, लय पावै प्रभु! तुम बिषे।
लगत सत्य इव सोइ, सत्य नहीं, दुखरासि प्रभु॥
नित्य-सरिस इव, नित्य न आही।
सुख इव लगै, दुखद सब काही॥
चेतन इव, नहिं चेतन रूपा।
है बिकल्प बहु चित्र अनूपा॥
तुम हरि! सत्य रच्यौ बहु भाँती।
लागत सत्य सो सबहि सुहाती॥
सत्य एक तुम, नंदकुमारा।
आतम-रूप, सकल आधारा॥
आदिपुरुष तुम पूरनकामा।
सब जग भित्र, सदा अभिरामा॥
नित्य, सनातन, सुखमय रासी।
अच्छर, अमृत, अघट, अबिनासी॥
अंजन-रहित, प्रकास सरूपा।
दूरि उपाधि सरूप अनूपा॥
एहि बिधि लखत सुघर नर कोई।
जिन कें कछु तुम में मति होई॥
नंद-सुअन! तुम कौं सब ठामा।
लखत चराचर में अभिरामा॥
हरि गुर-रूप तरनि-सम पाना।
बेद-उक्त चख लहि सुख-धामा॥
ताहि नयन करि लखत जब, आतम एक प्रबीन।
तब तिन कहँ संसार सब होइ जात जनु लीन॥
तब तिन काहँ यह जगत न साचा।
पहिलें रह्यौ जहाँ मन राचा॥
निरखि दाम अहि अति भयकारी।
रजु जान्यौ, तब भयौ सुखारी॥
बंध-मोक्ष, भव-मरन बिचारी।
अति भयभीत सो भयौ दुखारी॥
जब समुझै, तब है दुख दूरी।
ना तरु सोक-दोष रह पूरी॥
सुद्ध सचेतन रूप अनूपा।
आतम सदा एकरस रूपा॥
बंध-मोच्छ नहिं ता कहँ कबहूँ।
भयौ न है, हैहै नहिं तबहूँ॥
रजु-सर्प जिमि सत्य न होई।
तिमि आतप सुख-दुख नहिं कोई॥
तरनि एक रस संतत आही।
उदय-अस्त कहियत है ताही॥
बंध-मोच्छ, निसि-दिन समतूला।
सब कहँ लखु अग्यान समूला॥
मानहिं तन कहँ आतम मूढ़ा।
जे नर ममता-मद-आरूढ़ा॥
बाहर खोजत आतमा, अहो अग्य-जन मूढ़।
सब घट ब्यापी नहिं लखत, सदा मोह आरूढ़॥
बस्तु हेरानी गेह, खोजत गहन मझार सठ।
मिलै, कहौ, किमि तेह, करि प्रयास पचि-पचि मरौ॥
कोउ एक बिदुष सरीर मझारा।
खोजत जडता करि निरधारा॥
करै सर्प अपबाद बिनासू।
रजु-ग्यान तब उपजै आसू॥
ऐसें मुक्ति-हेतु एक ग्याना।
अपर उपाइ न अहै सुजाना॥

इस प्रकार अपने ज्ञानदीपकी ज्योति जगाकर पितामहने मानो व्रजराजकुमारकी आरती उतारी। इतनेमें पुनः दृष्टि चली गयी नन्दनन्दनके चरण-नख-चन्द्रकी ओर। फिर तो एक विचित्र-सी ज्योत्स्ना

आँखोंमें भर गयी। अन्तस्तल पुनः प्लावित हो उठा भक्तिकी विमल धारासे ही। स्रष्टाकी ज्ञानगरिमाका उपर्युक्त प्रवचन डूब गया इस धारामें, ज्ञानकी वह लौ समा गयी इसकी स्निग्धतामें—यह व्यक्त कर देनेके लिये कि 'देखो, भक्तिकी स्निग्धता ही मेरी जननी है और यही सान्द्र, सान्द्रतर होती हुई मुझे पुनः आत्मसात् कर लेती है; भक्तोंको अपने भावानुरूप श्रीकृष्णचरण-सरोजकी निर्बाध सेवाका अवसर दान करनेके लिये यह मुझे अपने अञ्चलमें छिपा लेती है। जिन्हें मेरी चाह हो—मेरे प्रकाशमें भगवान्‌की महिमाका तत्त्व जाननेमात्रकी अभिलाषा हो, उनके लिये भी भक्तिके स्निग्ध प्रवाहमें निमग्न हो जाना अनिवार्य है; अन्यथा वे मुझे पानेसे रहे।' तथा बाहर पितामहकी वाणी भी इसी तथ्यका कुछ अंश प्रकट कर देती है। वे कहने लगते हैं—'हे देव! हे भगवन्! यह ठीक है कि अज्ञानजन्य संसार ज्ञान होते ही तत्क्षण विनष्ट हो जाता है; तथापि जो व्यक्ति तुम्हारे युग्म पादपद्मोंके अनुग्रहबिन्दुसे सिक्त हो चुका है, कृपाप्रसादकी कणिकामात्र जिसने पा ली है, वही तुम्हारी अनन्त अपरिसीम महिमाका यत्किंचित् तत्त्व जान सकता है। किंतु जिसने तुम्हारी कृपा नहीं प्राप्त की, वह ज्ञानके साधनोंका आचरण करके, वैराग्यकी भूमिमें प्रतिष्ठित होकर, योगका अनुष्ठान करके—इन-इन साधनोंके द्वारा इनकी परमोत्कृष्ट दशाको प्राप्त हुए व्यक्तियोंमें परिगणित होकर भी चिरजीवन अपने प्रयत्नसे अनुसंधान करते रहनेपर भी—तुम्हारी महिमाके यथार्थ ज्ञानकी उपलब्धि नहीं कर पाता। तुम्हारी कृपाके बिना कोई भी तुम्हारी महिमाके तत्त्वको नहीं जान सकता, नाथ!'

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। २९)

हो प्रभु! तव-पद-कमल सुदेस।
ताके रसप्रसाद कौ लेस॥
कबहूँ काहू पै ढुरि आवै।
तब धल महिमा-तत्त्वहि पावै॥

× × ×

जद्यपि ग्यानवंत भयहारी।
तद्यपि एहि बिधि होइ सुखारी॥
तव पद-पंकज लेस पसाऊ।
जिन काहू यह जग महँ पाऊ॥
तासु अनुग्रह जा पर होई।
तत्वग्यान जानै नर सोई॥
बिनु पद-कंज अनुग्रह-पाऐं।
करत जतन बहु अति मन लाएँ॥
तत्वग्यान उपजै नहिं कबहूँ।
कैसेउँ निपुन होइ किन जबहूँ॥

भक्तिकी इस महिमाका गान करते हुए स्रष्टा अब स्वयं लालायित हो उठते हैं अपनेमें उसकी अचल प्रतिष्ठा हो जानेके लिये—इसके द्वारा व्रजराजकुमारकी महिमाका तत्त्व जाननेके उद्देश्यसे नहीं, अपितु उनके पदपल्लवका सेवाधिकार प्राप्त कर लेनेके लिये। किंतु यह वशकी बात जो नहीं। यदि कृपापरवश हुए नीलसुन्दर ही 'एवमस्तु' कर दें, तभी सम्भव है। तथा उनसे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त इसके लिये और मार्ग ही क्या है—

पुनि प्रार्थत सब सुरन कौ रानी।
भक्ति-बिभौ जु देखि ललचानी॥

अतः आतुर कण्ठसे पितामह अपनी अभिलाषा निवेदन कर दे रहे हैं—'हे नाथ! इसीलिये वह सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हो जाय—इस ब्रह्मशरीरसे हो अथवा इसे छोड़कर पशु-पक्षी-कीट-भृङ्ग आदि किसी भी योनिमें हो, किंतु उस महासौभाग्यका दान है देव! मुझे भी मिल जाय अवश्य कि जिससे मैं तुम्हारे दासवर्गमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर सदा दास ही बना रहकर तुम्हारे चरणपल्लवकी सेवामें ही संलग्न रहूँ। ओह! वह भ्रमर—कीट मेरी अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है, स्वामिन्! जो तुम्हारे चरणसरोरुहमें न्योछावर हो रहा है। पशु ही है वह गोशावक, पर तुम्हारे श्रीअङ्गलेहन (चाटने)-

का सौभाग्य उसे प्राप्त है। मैं अभागा, भला, उस पशुकी तुलनामें भी नहीं हूँ, नाथ! वे बड़भागी शुक-पिक आदि विहंगम मधुर कण्ठसे गीत सुनाकर तुम्हारा आनन्दवर्धन करते हैं। इन पक्षिसमूहोंके सामने मेरा ब्रह्मपद कितना हेय, तुच्छ, सारहीन है, स्वामिन्! और यह नवोद्भिन्न सुकोमल तृणाङ्कुर-राशि तुम्हारे चरणतलको अपना मृदुल स्पर्श दान कर रही है! धन्य है यह तृण-पङ्क्ति। क्या मूल्य है मेरा इन उद्भिज्ज प्राणियोंके समक्ष, भगवन्? इसीलिये हे करुणामय! इतनी-सी कृपा कर दो, मेरी विनय सुन लो—इस जन्ममें हो या इसे परित्यागकर किसी ऐसे ही पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, तरु, गुल्म, लताकी योनिमें हो—जहाँ जिस योनिसे सम्भव हो, वहीं मुझे अपने चरणपल्लवके सेवनका सौभाग्य दे दो, दयानिधे!'

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०)

अहो नाथ! मो कहुँ यौं करौ।
जौ तरुना करुना रस ढरौ॥
इही जनम में, और जनम में।
मनुष्य जनम में, तृजग जनम में॥
तुमरे भक्तन में कछु ह्वै कै।
सोऊ चरन-सरोजन छ्वै कै॥

× × ×

अपर जन्म तिरजग कोउ जोनी।
धरउँ, जहाँ जसि निज गति होनी॥
तुमरे जनन माँझ तनधारी।
होउँ दास कर दास बिचारी॥

सच्चे भक्तोंकी भावना—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रपर ही अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुकनेवाले प्रेमीजनोंके चिरजीवनकी लालसा पितामहके भक्तिपूरित अन्तस्तलकी सरितामें हिलोरें ले रही है। सचमुच जिनके जीवनमें श्रीकृष्णसेवाधिकार प्राप्त होनेका उपक्रम होता है, उनमें एकमात्र इतनी-सी चाह ही बच रहती है—

किए मानुस पशु पखि भए जनमिए अथवा कीट-पतंग।
करम बिपाक गतागत पुनु-पुनु, मति रह तुअ परसंग॥

ब्रह्माजीके द्वारा व्रजवासियोंके भाग्यकी सराहना

'अहो! अतिशय धन्य हैं ये व्रजकी गायें और ये व्रजपुरवासिनी गोप-सुन्दरियाँ!'—पितामह अब गोकुलवासियोंके भाग्यका अभिनन्दन करने लगते हैं, वह व्यक्त हुई लालसा—भक्त बनकर जन्म पा लेनेकी उनकी अभिलाषा केन्द्रित हो जाती है व्रजराजकुमारके अत्यन्त प्रिय पात्रोंकी ओर ही—'ये सौभाग्यशालिनी गौएँ, गोपाङ्गनाएँ परम कृतार्थ हो चुकीं, प्रभो! देखो-क्या ही आश्चर्य है, नाथ! अनादिकालसे अबतक बड़े विधि-विधानसे सम्पादित हुए समस्त यज्ञसमूह तुम्हें तृप्त कर देनेमें समर्थ न हो सके; स्वर्गके देवगण अमृतका नैवेद्य समर्पितकर, वेद-मर्मज्ञ, कुशल कर्मकाण्डी द्विजवृन्द सम्पूर्ण विविध विधियोंसे यज्ञका उपहार निवेदितकर तुम्हें तृप्ति प्रदान न कर सके; तुम सर्वथा परिपूर्णको, नित्य तृप्तको उन-उन अर्पित द्रव्योंसे तृप्त होते न देख सके। परंतु आज उन्हीं तुमने, नित्य पूर्णस्वरूप होनेपर भी, गोवत्स एवं गोपबालक-रूपसे इन गायोंका, गोपिकाओंका स्तन्य-पान किया है, अतिशय हर्ष एवं उमंगमें भरकर—इनके स्तनक्षरित दुग्धामृतका स्वयं अपने श्रीमुखसे चूस-चूसकर स्वाद लिया है, वात्सल्य-प्रेमपरिपाकरूप इस अप्राकृत-सुधासे अपनी उदरपूर्ति की है। सबके देखते हुए ही यह आश्चर्य घटित हुआ है। गायोंका, गोप-रमणियोंका स्तन-दुग्ध—स्थूल दृष्टिसे देखनेपर अन्न-पान आदिसे उद्भूत देह-विकारमात्र वस्तु, स्वयं निर्विकार नित्यतृप्तको पीते, ग्रहण करते सबने प्रत्यक्ष देखा है! उन गौओं एवं व्रजरमणियोंके जीवनधारणकी सफलता—कृतार्थताकी पराकाष्ठा ही तो यह है, भगवन्!'—

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३१)

हो प्रभु! धन्य-धन्य ये गोपी, धनि ये धेनु परम रस ओपी।
बालक हैं, बछ हैं प्रभु जिन के, पीवत भए पयोधर तिन के॥
बहुरयौ तनक स्तन्य-पय पाइ, बार-बार तुम रहत अघाइ।
कब के जग्य-भाग हौं खात, तहँ तुम तनकौ नहिंन अघात॥

'केवल गायोंका एवं गोपरमणियोंका ही नहीं, नन्दव्रजके अधिवासीमात्रका भाग्य अनिर्वचनीय है, नाथ!'—पद्मयोनि उसी भावनामें डूबकर कहते चले जा रहे हैं—'गोपराज नन्दके व्रजमें स्थान पाये हुए जीवमात्रको तुमने अपने जिस कृपाप्रसादका दान किया है, उसकी अन्यत्र कहीं भी तुलना सम्भव नहीं है, स्वामिन्! इससे पूर्व ऐसा निरुपाधि प्रेमदान कहाँ किसे प्राप्त हुआ है, प्रभे! अवाङ्मनसगोचर परमानन्दस्वरूप, सनातन परिपूर्ण ब्रह्म तुम स्वयं इनके—ओह! व्रजके पशु-पक्षी, गुल्म-लता-वल्लरियोंतकके परम सुहृद्रूपमें प्रत्यक्ष अवस्थित रहकर इन्हें अपने साथ लेकर अनन्त, पारावार-विहीन प्रेमसिन्धुमें संतरण कर रहे हो—यह अप्रतिम सौभाग्य इससे पूर्व कहाँ, किनका हुआ है, देव! सच्चिदानन्द, परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेके लिये अनेकोंको दौड़ते हुए देख लेना सम्भव है; पर उस परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको ही गोपशिशुओंके, गोवत्सोंके पीछे, उन्हें ढूँढ़नेके लिये दौड़ते हुए दर्शन कर लेना यहाँ इस नन्दव्रजके अतिरिक्त और कहीं भी सम्भव नहीं है, स्वामिन्! कितना अनुराग है तुम्हारा इन गोपबालकोंके प्रति, गोवत्सोंके प्रति, भगवन्! अभी-अभी तुम परमानन्दस्वरूप होकर भी कितनी आतुरतासे इन्हें वनप्रान्तरोंमें दौड़-दौड़कर ढूँढ़ रहे थे, नाथ! और तुम्हारी वह दैनंदिनी दिनचर्या—जब अल्पवयस्क गोवत्स द्रुतगतिसे चलनेमें श्रान्त-से दीखने लगते हैं, उस समय दौड़कर उन्हें अपनी नन्हीं-सी गोदमें धारण कर लेनेका तुम्हारा प्रेमिल प्रयास—अपने परम सौहार्दका ऐसा दान यहाँके अतिरिक्त कहाँ उपलब्ध है, देव! इसे भी जाने दो, चञ्चल गोप-शिशुओंके द्वारा पुष्पचयनके समय किसी पुष्पवृक्षको खण्डित हुए देखकर तुम कितने व्यथित हो जाते हो! उस

समय अपने कोमल करस्पर्शसे वृक्षकी वेदना हर लेनेकी तुम्हारी चेष्टा, वृक्ष-गुल्म-लताओंके प्रति भी स्नेहदानका यह अद्भुत निदर्शन इस व्रजके सिवा और कहाँ सम्भव है, विभो! बस, धन्य हैं व्रजराज महाराज नन्द! धन्य हैं गोप! धन्य हैं व्रजके अधिवासी! अहोभाग्य है व्रजवासीमात्रका—यहाँके पशु-पक्षी-कीट-पतंग-भृङ्ग-तरु-लता-गुल्म प्रभृति-तकका, जिनके पूर्णब्रह्म, सनातन, परमानन्दस्वरूप तुम स्वयं मित्र हो।'—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

इह व्रजजनकी भाग बड़ाई।
हो प्रभु, मो पै नहिं कहि जाई॥
जा प्रभु के आनँद कौ लेस।
बर्तत अज पुनि सेस-महेस॥
सो तुम निरबधि परमानंद।
जिनके मित्र परम सुख-कंद॥

× × ×

अहो भाग्य सुनंद गोपन दान कह पूरब दियौ॥

× × ×

ब्रह्म सनातन कृष्न प्रभु, पूरन परमानंद।
मित्ररूप भए जासु के, अहोभाग्य सुख-कंद॥

यह कहते-कहते, व्रजपुरवासियोंके इस असमोर्ध्व सौभाग्यका कीर्तन करते-करते चतुर्मुख उन्हींमें तन्मय-से होने लगते हैं। प्रेमकी एक विचित्र लहर उठती है अन्तस्तलमें और वह छा लेती है उनके निर्भ्रान्त वेद-ज्ञानके आलोकको। वेदगर्भ भूल जाते हैं इस सिद्धान्तको कि व्रजराजकुमारके लीलापार्षद ये व्रजवासीजन भी उन्हींकी भाँति सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। इनके शरीर, नेत्र, नासिका आदि इन्द्रियाँ, मन-प्राण प्राकृत जगत्के प्राणियोंके-जैसे नहीं, पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं, अपितु उनके वे सब कुछ—इन्द्रिय आदि समस्त पदार्थ सच्चिदानन्दमय उनके स्वरूपके ही पृथक्-पृथक् संनिवेशमात्र हैं। प्राकृत इन्द्रियोंसे तो केवल जड वस्तुका ही ग्रहण सम्भव है, सच्चिदानन्दमय वस्तुका ज्ञान सम्भव नहीं। किंतु यहाँ ये व्रजवासी तो सदा-सर्वदा अपनी समस्त इन्द्रियोंके द्वारा सर्वान्तरात्मा, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्को ही ग्रहण कर रहे हैं। इनकी सच्चिदानन्दमयी इन्द्रियोंका नियन्त्रण—प्राकृत इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवतागण कर सकें, यह तो सर्वथा असम्भव है। इन चिदानन्दमय पार्षदोंकी इन्द्रियोंको आवश्यकता नहीं है इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवोंकी शक्तिकी—ये तो स्वशक्तिसे ही भगवद्रूपरस आदिको ग्रहण करती हैं। किंतु पितामहको प्रेमके आवेशमें इस सत्यकी विस्मृति-सी हो जाती है। वे अनुभव-सा करने लगते हैं कि 'हम इस प्राकृत जगत्के देवगण—एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता भी कृतार्थ हो रहे हैं इन व्रजवासीजनोंकी इन्द्रियोंकी ओटसे।' और यह भी सम्भव है, उपर्युक्त सत्यकी छाया स्मृतिपथमें वर्तमान रहनेपर भी प्रेमपरवश हुए पितामहके आकुल प्राण अभिलाषाकी लहरोंपर—व्रजपुरवासियोंसे सम्बद्ध हो जानेकी लालसाके प्रबल प्रवाहपर बहते जा रहे हैं। उन प्राणोंमें स्पन्दन हो रहा है—'इस चिन्मय व्रजपुरसमाजसे हम प्राकृत इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंका साक्षात् सम्बन्ध तो होनेसे रहा। किंतु इनके भी इन्द्रियवर्ग देखनेमें तो यहाँ-जैसे ही हैं; आकृति, बाह्यसंस्थान, संचरणप्रक्रियामें तो साम्य है ही; नयन, नासा आदि नामोंकी समता तो है ही। बस, बस, इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है; किसी भी प्रकारसे सादृश्य-लेशगन्धकी भावना करके गौरवान्वित होनेका आधार तो प्राप्त हो गया।' इस प्रकार पितामह इस आवेशमें ही कहने लग जाते हैं—'हे अच्युत! इन व्रजपुरवासियोंके अनिर्वचनीय परम सौभाग्यकी बात तो अलग रही—मन, बुद्धि, अहंकार, कर्ण, त्वक्, चक्षु, रसना, नासिका, वाक्, हस्त, पद—इन एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-

देवतास्वरूप महादेव*, मैं (ब्रह्मा), चन्द्र, दिक्, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र—हम एकादश व्यक्ति भी धन्य हैं; अतिशय भाग्यशाली हैं हम सब भी नाथ! देखो इन व्रजपुरवासियोंकी इन्द्रियोंको हम सबने पानपात्र (प्याला) बनाया है। इन पात्रोंमें तुम्हारे चरणसरोजका मधुर मकरन्दरस नित्य पूरित होता रहता है। यह रस-सुधासे भी अतिशय सुमधुर एवं आसवसे भी अत्यधिक मादक है—इसे पी लेनेके अनन्तर अन्यत्र कहीं रसानुभूति नहीं होती, अन्य सब कुछकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है। ऐसा मधुमय एवं उन्मादी रस है यह! और उसे ही हम सब पान करते रहते हैं, प्रभो! इन व्रजवासियोंका मन तुम्हारे साथ अपने यथायोग्य सम्बन्धका मनन करता है। इनकी बुद्धि तुम्हारी सेवाके लिये तुम्हारे साथ विविध क्रीड़ा कर तुम्हें सुख पहुँचानेके लिये अध्यवसाय करती है। इनका अहंकार तुम्हारे रुचिकर कार्योंके संकल्पमें ही संलग्न रहता है। इनके कर्णपुटोंमें तुम्हारी मधुस्यन्दिनी वाणी एवं वंशीरव ही पूरित रहता है। इनकी त्वचामें यथायोग्य भाव एवं अधिकारके अनुरूप तुम्हारे श्रीअङ्गोंका स्पर्श ही समाया रहता है। इनके दृग् तुम्हारे अनिन्द्य-सुन्दर रूपमें ही उलझे रहते हैं। इनकी रसना तुम्हारे अधरामृतसे सिक्त प्रसादका ही रस लेती है। इनके नासारन्ध्रोंमें तुम्हारे श्रीअङ्गोंका सौरभ ही परिव्याप्त रहता है। इनकी वागिन्द्रिय व्यस्त रहती है तुमसे प्रेमालाप करनेमें ही, तुम्हारे अनन्त गुणोंका मधुर गान करनेमें ही। इनके हस्त आहरण करते हैं एकमात्र तुम्हारी सेवोपयोगी वस्तुओंका ही। इनके पदयुगलमें गति रहती है केवल तुम्हारी ओर जानेके लिये अथवा वहाँ उस दिशामें दौड़ते रहनेके लिये, जहाँ जिधर जाकर तुम्हारी सेवा सम्भव हो सके।—इस प्रकार व्रजवासीजनोंकी ये एकादश इन्द्रियाँ तुमसे जुड़ी रहनेके कारण सतत पूर्ण रहती हैं तुम्हारे असमोर्ध्व माधुर्यके अमृतसे ही। और इसीलिये नाथ! इन इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवगण हम सब भी—साक्षात् सम्बन्धसे न सही, सम्बन्ध-गन्धलेशाभासकी भावना करके ही—इस चिन्मय सुधारसका बार-बार पान कर रहे हैं। अहा! जब एक-एक इन्द्रियसे पान करके हम देवगण धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियोंसे ही इस अप्राकृत पीयूषरसका सतत सेवन करनेवाले व्रजवासियोंकी स्थितिका चित्रण कौन कर सकेगा, स्वामिन्!—

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३३)

इन की भाग-महिम तौ रहौ।
हमरे भूरि भाग तन चहौ॥
जद्यपि इन की इंद्री जिती।
हम करि नाहिंन कीनी तिती॥
तदपि तनक अभिमान के साथ।
हम सब कृत्यकृत्य भए, नाथ॥
नेत्रादिक इंद्रियगन जिते।
हमरे पान-पात्र प्रभु! तिते॥
तुम्हरे सुंदर सुंदर अंग।
छिन छिन उठति जु अमृत-तरंग॥
तिन करि पुनि-पुनि पियत जथारथ।
सूर्जादिक सब भए कृतारथ॥
बहुरयौ इक-इक इंद्रिय केरे।

* महादेव अहंकारके अधिष्ठाता हैं, ब्रह्मा बुद्धिके एवं चन्द्रमा मनके। इन तीनोंके अतिरिक्त शेषको उपर्युक्त क्रमसे समझना चाहिये। महादेवजीका नाम पितामहने सर्वप्रथम इसलिये लिया है कि अभी भी उनके मनमें अपने किये हुए अपराधका पर्याप्त संकोच वर्तमान है। साथ ही 'भक्तचूडामणि महादेवका नाम व्रजराजकुमारको उल्लसित कर देगा, द्रवित हो उठेंगे प्रभु और मुझ अपराधीके नामका प्रथम उल्लेख शोभाजनक भी नहीं'—यह भावना भी काम कर रही है।

धन्य भए हम-से बहुतेरे॥
जिन की सब इंद्रिय रस-पगी।
सब ही बिधि ते तुमहीं लगी॥
तिन के भाग कि महिमा जौन।
हो प्रभु! ताहि कहि सकै कौन॥

× × ×

तासु भाग्य की बात, को बरनै, केहि बुद्धि असि।
धन्य भाग्य सुर तात, जे इंद्री पति जगत के॥
मन अरु बुद्धि चित्तऽहंकारा।
चच्छु आदि ते रह निरधारा॥
सोइ भाजन करि करहिं जु पाना।
तव पद कंज अमृत रस जाना॥
छके रहत तेहिं आसव सोऊ।
अहो भाग्य कहि सकै न कोऊ॥
एक-एक के अधिपति मानी।
सौरभादि सेवहिं हियँ आनी॥
तदपि कृतारथ हम भए सबही।
एक देस चख आदिक तबहीं॥
सकल इंद्रियन करि निज सेवा।
तासु भाग्य किमि बरनौं देवा॥
अहो भाग्य यातें ब्रजबासी।
जिनके गृह बिचरत अबिनासी॥

अतएव, 'हे भगवन्! मेरे प्राण अत्यन्त आकुल हैं इस वृन्दाकाननमें, गोकुलमें—गोगोपगोपीजनकी, इनके सेवकवर्गकी निवासस्थलीमें कहीं स्थान पा लेनेके लिये।'—चतुर्मुखकी आन्तरिक लालसा और भी विशद, निर्मल, निर्मलतररूपमें, भक्तोचित आदर्श दैन्यके सौरभसे सुरभित होकर व्यक्त होने लगती है—'ओह! अब मैं समझ पा रहा हूँ, प्रभो! मेरी वह पूर्वकी प्रार्थना मेरी धृष्टतामात्र थी। तुम्हारे साक्षात् चरणसेवनका अधिकार पा लेनेयोग्य मैं नहीं हूँ, नाथ! फिर भी प्राणोंकी अभिलाषा मिटती जो नहीं, स्वामिन्! अधिष्ठातृत्वकी भावनासे अपनेको धन्य-धन्य अनुभव करनेपर भी वे प्राण पुनः मचल उठे हैं तुम्हारे इन व्रजपार्षदोंके आवाससे ही संनद्ध हो जानेके लिये। ब्रह्मशरीरसे यह सम्भव नहीं, साथ ही तुम्हारी साक्षात् सेवाके अनुरूप पार्षदशरीर पा लेनेकी योग्यता नहीं। फिर भी तुम तो करुणावरुणालय हो, देव! बस, इतनी-सी कृपा कर दो, दयामय! सेवकका अधिकार न सही, तुम्हारे इन व्रजवासीजनोंमेंसे जिस किसीकी भी चरणधूलिकणिकासे अपने-आपको अभिषिक्त हुए देख लेनेका ही परम सौभाग्य मेरा हो जाय। ब्रह्मजन्मकी अपेक्षा कोटि-कोटि-गुणित अधिक सौभाग्यसम्पदा यह है, विभो! बस, इस गोपावासमें जहाँ कहीं भी इसी सौभाग्यसे भूषित होनेयोग्य स्थान मुझे मिल जाय—कीट, पतंग, तृण, गुल्म आदि कुछ भी बनकर यहाँ मेरा जन्म हो जाय और मुझपर व्रजपुरवासियोंकी चरणरज पड़ती रहे, मेरे समस्त अङ्ग सदा सिक्त होते रहें उनकी पावन पद-धूलिसे ही। अहा! अनादिकालसे अबतक श्रुतियाँ भी जिनकी पदरजका अन्वेषण ही कर रही हैं, वे स्वयं भगवान् मुकुन्द श्रीनन्दनन्दन तुम जिन व्रजवासियोंके जीवनस्वरूप सारसर्वस्व हो, उन व्रजजनकी चरणरजको प्राप्त कर लेनेपर मुझे तुम्हारे चरणसरोरुहकी रज तो मिल ही चुकी, भगवन्!'

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

तातैं यह माँगत प्रभु पहियाँ।
कै ब्रज, कै बृंदाबन महियाँ॥
ओषधि, बीरुध, तृन, द्रुम, बेली।
जहँ इन ब्रजबासिन की केली॥
तहँ कौ मोहि कछू अस करौ।
इन की पद-रज मो पै परौ॥
जा प्रभु की पद-पंकज धूरि।
ढूँढ़त निगम, सु अजहूँ दूरि॥

सो तुम जिन के जीवननाथ।
जैसैं दीन मीन कैं पाथ॥
इन कै भक्ति लहलहत ऐसी।
देखी सुनी न कितहूँ तैसी॥
× × ×
भूरि भाग्य मैं तव जगदीसा।
मागौं यह तव पद धरि सीसा॥
पावौं जन्म अवनि महँ जाई।
बृंदाबन गोकुल सुखदाई॥
जहाँ जीव सब रहहिं सुतंतर।
ताहँ तव पद रज लहौं निरंतर॥
जुग तव चरन सरोज रज, जुग-जुग श्रुति जेहि खोज।
सो बृंदाबन भूमि सब, अंकित चरन सरोज॥
यातें ब्रज महँ नाथ! जन्म लहौं तृन द्रुम लता।
लहि रज होउँ सनाथ, मिटै फेरि संभव मरन॥
ब्रज महँ जीव जहाँ लगि कोई।
चर अरु अचर, मंद-भल जोई॥
तासु चरन-रज निज सिर धरऊँ।
जन्म अनेक दोष परिहरऊँ॥
जासु निखिल जीवित घनस्यामू।
ताहि बिना नहिं तेहि बिश्रामू॥
एहि तैं धन्य, धन्य तर जानूँ।
बाल-भाव ईस्वर महँ मानूँ॥
× × ×
करहु मोहि ब्रज-रेनु, देहु बृंदाबन बासा।
माँगौं यहै प्रसाद, और मेरें नहिं आसा॥
जोइ भावै सोइ करहु तुम, लता सिला द्रुम गेहु।
ग्वाल गाइ कौ भृत करौ, मानि सत्य ब्रत एहु॥
जो दरसन नर नाग अमर सुरपतिहुँ न पायौ।
खोजत जुग गए बीति, अंत मोहू न लखायौ॥
इहिं ब्रज यह रस नित्य है, मैं अब समुझ्यौ आइ।
बृंदाबन रज ह्वै रहौं, ब्रह्मलोक न सुहाइ॥

'देव! पता नहीं मेरा यह सौभाग्य होगा या नहीं, व्रजपुरवासियोंकी चरणरजसे अभिषिक्त होनेका सुदुर्लभ दान तुम मुझ अनधिकारी, अपराधीको दे सकोगे या नहीं'—पितामहकी दीनताभरी दृष्टि स्थिर हो जाती है व्रजराजकुमारके मुखचन्द्रपर एक प्रश्नका उत्तर पा लेनेके लिये, नहीं-नहीं, व्रजपुरवासियोंके अपरिसीम सौभाग्यका एक अभिनव चित्रपट सामने रखकर अपने आराध्यको परम उल्लाससे पूरित कर देनेके लिये। वे कहने लगते हैं—'किंतु प्रभो! यह तो बता दो कि अपने इन व्रजजनोंको इनकी सेवाके प्रतिदानमें तुम दोगे क्या? मेरी बुद्धि कुण्ठित हो रही है, मोहित हुई जा रही है इसका निर्णय कर लेनेमें, नाथ! तुम सर्वभवन-समर्थ हो; सब कुछ करनेकी, देनेकी तुम्हारी सामर्थ्य है—यह नितान्त सत्य है। पर साथ ही तुम्हीं तो सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप हो, तुमसे उत्कृष्ट कोई फल है जो नहीं, भगवन्! फिर तुम इन्हें—अपने व्रजवासी सेवकोंको इनकी सेवाका क्या फल दोगे? तुम्हारी अनन्त शक्तिमत्ताको स्वीकार करनेपर भी बुद्धि निश्चय नहीं कर पा रही है कि इन्हें, इनकी सेवाके अनुरूप कौन-सी वस्तु तुम प्रदान करोगे। सब कुछके उत्कृष्टतम फलस्वरूप अपने-आपको ही देकर भी तुम इनसे उऋण जो नहीं हो सकते, स्वामिन्! इन्हें तो, तुमसे भी उत्कृष्ट कदाचित् कोई वस्तु होती, वह दी जाती, तब न्याय होता; इनकी सेवाका, इनके प्रेमका सच्चा—समुचित प्रतिदान होता; तुम उऋण हो पाते; क्योंकि यह स्पष्ट है, कृपालो! तुम्हारे स्वरूपको—तुम्हें तो उस बालघातिनी यातुधानी पूतनाने भी केवल वात्सल्य-प्रेममयी व्रजपुरन्ध्रियोंके वेशका अनुकरणमात्र करके पा लिया, तुम्हारी धात्रीके अनुरूप गति पाकर कृतार्थ हो गयी वह; इतना ही नहीं, अपने समस्त कुलके लिये वह तरणतारण बन गयी, फिर जिन्होंने अपने गृह, धन, सुहृद्, समस्त प्रीत्यास्पद वस्तु, शरीर, पुत्र, प्राण, अन्तःकरण—अपना सर्वस्व तुम्हारे लिये, तुमपर ही न्योछावर कर रखा है, सम्पूर्ण समर्पण करके तुम्हारे लिये तुम्हारी ऐकान्तिक आराधनामें ही जो संलग्न हैं, उन अपने व्रजजनोंको भी वही फल—वही पुरस्कार जो पूतनाको दिया, देकर कैसे उऋण हो सकोगे, स्वामिन्? मेरा

चित्त विमोहित होता जा रहा है इसका समाधान पा लेनेके प्रयासमें। योगी, ऋषि, न्यासी, ध्यानी, ज्ञानी, कर्मी, तपस्वी भक्तजनोंको प्राप्त होनेवाले फलोंपर—भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि आदि फलोंसे आरम्भ कर तुम्हारे चरणसेवनका अधिकार-पर्यन्त सबपर विचार कर लेनेपर भी निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ, नाथ! तुम्हीं बता दो—अपने इन व्रजके प्रेमपुजारियोंको इनके प्रेमके अनुरूप प्रतिदानमें तुम क्या दोगे देव!'—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३५)

मोहि तौ सोच परयौ है महा।
हो प्रभु! इन कौं दैहौ कहा॥
बड़ी बड़ाई मुकति तुम्हारे।
जाकौं चारयौ बेद पुकारे॥
इन कें बेष मात्र पूतना।
महा पापिनी, जगत थूतना॥
बहुरयौ प्रभु कौं मारन कारन।
आई थन लगाइ गर दारुन॥
सो वह बकी सकल कुल लै कै।
बैठी जाइ तनक बिष दै कै॥
जिन के देह गेह धन धाम।
लागे सकल राखरे काम॥
दैहौ कहा महा अरझेरौ।
मोहौ जात इहाँ मन मेरौ॥
हौं जानौं नित रिनी रहौगे।
टक-टक इन के बदन चहौगे॥

× × ×

घोष निवासी जन हैं जेते।
पुन्य पुंज जानिय सब तेते॥
रिनीवान इव जा घर बसहू।
ताहि देत सुख सब बिधि सबहू॥
अहो सकल फल रूप में, मोतें अधिक न कोइ।
देउँ कहा इन कौं जु मैं, यह बिचार चित जोइ॥
करि बिचार मन माहिं, तुम ते अधिक न जग लह्यौ।
एहि तें दीनी नाहिं, मोह पाइ मन चुप रह्यौ॥
जननी इव सुभ बेष बनाई।
कपटी क्रूर पूतना आई॥
जननी-गति दीन्ही प्रभु वाही।
उरिनी कैसें तुम इन पाँही॥
सकुल बकादि दियौ निज धामा।
अति उदार, हे पूरन कामा॥
घोष निवासी जे, जदुनंदा।
तिन के बहु गुन आनँदकंदा॥
जिन के सुहृद तनय प्रिय प्राना।
तन-धन-धाम तुमहि एक जाना॥
तुम तें अपर अर्थ नहिं जिनहीं।
एहि तें रिनीवान इव तिनहीं॥

इसी समय स्रष्टाको यह प्रतीत होता है, मानो व्रजराजकुमार संकेत-सा कर रहे हों—'ब्रह्मन्! भूल तो नहीं रहे हो? अरे, ये व्रजपुरवासी रागी हैं, गृहका निर्माण कर जीवनयापन करनेवाले हैं, मोह भरा है इनके मनोंमें। भला, इनकी ऐसी—इतनी महिमाका गान कर रहे हो!' किंतु अब पितामह भ्रान्तिकी सीमासे पार जा पहुँचे हैं, वहाँ उस स्तरमें अवस्थित हैं जहाँ व्रजराजकुमारके चरणनखचन्द्रसे झरते हुए पीयूषसे सनकर राग अनन्त दैवी सम्पदाओंका निर्झर बन जाता है; जहाँ गृहका निर्माण ही होता है उसके प्राङ्गणको श्रीकृष्णचरणनूपुरसे सतत झंकृत देखनेके लिये; जहाँ मोह इतना सान्द्र (गाढ़ा) हुआ रहता है कि उसमें लिपटे हुए मन-प्राण श्रीकृष्णपादपद्मोंसे ही अनन्तकालतक सटे रहते हैं—इस परमानन्दमयी अनिर्वचनीय स्थितिको पितामह प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे भूल सकें, यह सम्भव जो नहीं रहा है; इसीलिये वे कह उठते हैं, 'मुझमें क्षमता नहीं है, नाथ! कि मैं प्रेमपरिणतिके अगाध महासिन्धुमें अवगाहन कर सकूँ; अवगाहन दूर, व्रजमें उमड़े हुए इस रस-सिन्धुके एक कणका भी स्पर्श पा ले सकूँ। यह

योग्यता, यह अधिकार भी नहीं। इन व्रजपुरवासियोंके रागका, इनके घर बसानेका, मोहका—इनकी प्रेमविकृति एवं तज्जन्य प्रवृत्तिका विश्लेषण कर सकूँ—नहीं-नहीं, हृदयंगम करके कृतार्थ हो सकूँ, यह सौभाग्य मेरा नहीं है, स्वामिन्! मैं तो इतना ही निवेदन कर सकता हूँ कि इस प्रपञ्च-जगत्में भी ये राग आदि तभीतक रहते हैं, प्रभो!—ये बटमार तभीतक प्राणियोंके स्वरूपभूत आनन्दका, ज्ञानका अपहरण करते रहते हैं, जबतक वे प्राणी तुम्हारा आश्रय ग्रहण नहीं कर लेते, तुम्हारे ही नहीं बन जाते। गृह तभीतक बन्धनागार बना रहता है, मोह पादबन्धनके लिये शृङ्खला (बेड़ी)-रूप हुआ होता है, जबतक ये जीव तुमपर न्योछावर नहीं हो जाते, तुम्हें ही अपना सर्वस्व नहीं बना लेते। तुम्हारा आश्रय ले लेनेके अनन्तर जीवके इस रागकी, उसकी विषयप्रीतिकी दिशा ही बदल जाती है, भगवन्! इसका प्रवाह जगत्से मुड़कर तुम्हारे पादपद्मोंकी ओर हो जाता है। फिर हर्ष-शोक-विषाद आदिके स्रोत भी बह चलते हैं तुम्हारी ओर ही। उस बड़भागी प्राणीके गृहका—विषयमात्रका रूप ही सर्वथा परिवर्तित हो जाता है। पद-पदपर अनुतापसे भर देनेवाले वे विषय—जिनके सम्पर्कमें आकर मन-प्राण झुलस उठते थे—अब प्रतिक्षण आनन्द-मन्दाकिनीका सृजन करते रहते हैं, विषयोंका वह कारागार आनन्दभवनमें परिणत हो जाता है। उसका मोह—अविवेक भी विचित्र रूपान्तरित हो जाता है; उसे—उस प्राणीको तुम्हारे चरणसरोरुहके चिरबन्धनमें बाँधकर, इन पादपद्मोंके अतिरिक्त कोई सत्ता है, हो सकती है—इस मिथ्या सारहीन स्मृतिका द्वार ही वह सदाके लिये आवृत कर देता है। और इस प्रकार वह जीव अनादि संसृतिसे त्राण पा लेता है तुम्हें पाकर, प्रभो! इतना ही नहीं, तुम्हारे चिन्मय, आनन्दमय, अनन्त—पारावारविहीन लीलारससिन्धुमें वह सदाके लिये समा जाता है, स्वामिन्! श्रीकृष्णचन्द्र!'

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

हे सुंदर बर नंदकिसोर।
रागादिक तबई लगि चोर॥
तबई लगि बंधन आगार।
देह, गेह अरु नेह बिथार॥
तबई लगि दिढ़ जंजर जेरी।
मोह-लोह की पाड़नि बेरी॥
तब लौं मननि बासना छए।
जब लगि तुम्हरे नाहिंन भए॥
× × ×
सुनहु, नाथ! मम बचन बिनीता।
तब लगि नर कहँ सब बिपरीता॥
जब लगि तव पद चित नहिं जोरा।
रागादिक लूटहिं बहु चोरा॥
तब लगि गृह कारागृह जानू।
मोह-निगड़ तब लगि पद मानू॥
जब तें तव पद भक्ति न होई।
तब तें जगदुख मिटै न कोई॥

ब्रह्माजीका श्रीकृष्णसे विदा माँगकर सत्यलोकमें लौट जाना; पुनः वन-भोजन; योगमायाके द्वारा गोपबालकों एवं गोवत्सोंका व्रजमें प्रत्यावर्तन; उनके सामने उसी दृश्यका पुनः प्रकट होना, जिसे छोड़कर श्रीकृष्ण बछड़ोंको ढूँढ़ने निकले थे, तथा उन्हें ऐसा प्रतीत होना मानो श्रीकृष्ण अभी-अभी गये हैं

'तुम्हारे इस लीलाविलासकी आड़में एक साथ मुझे दो वस्तुओंके दर्शन हो रहे हैं, देव!' स्रष्टा व्रजराजकुमारके असमोर्ध्व ऐश्वर्य एवं माधुर्यके बीचमें झूलते हुए पुकार उठते हैं—'प्रभो! एक ओर तुम सर्वकारण कारण हो; पर साथ ही उसी समय इस व्रजपुरमें, व्रजेन्द्रसदनमें व्रजराज व्रजरानीके पुत्ररूपमें, उनके नीलसुन्दर होकर तुम्हारा जन्म है। तुममें समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव है, सच्चिदानन्दविग्रह हो तुम; पर साथ ही यहीं इस व्रजपुरमें ही, ओह! क्षुधाकी वेदनासे अभिभूत होकर क्रन्दन करते हुए तुमने जननीसे नवनीतकी याचना की है। प्रपञ्चके दोषोंकी गन्ध भी तुममें नहीं है, परम विशुद्ध हो तुम; फिर भी व्रजसुन्दरियोंके आवासमें जाकर तुमने नवनीतका अपहरण किया है। स्वयं आत्माराम होकर भी इन गोपशिशुओंके साथ मिलकर नित्य नवीन कौतुक-रचनाका लोभ तुम संवरण नहीं कर पाते। इस प्रकार एक ओर तो तुम प्रपञ्चसे सर्वथा अतीत हो, जगत्—जागतिक भावोंका कहीं किंचिन्मात्र कोई भी सम्बन्ध तुमसे नहीं है; तथापि ठीक उसी समय तुम्हारा जन्म है; दिवस, रजनी, पक्ष, मास एवं वर्षके अनुक्रमसे तुम्हारे श्रीअङ्गोंमें वृद्धिके दर्शन हुए हैं, होते हैं; क्षुधा, शिशुसुलभ चञ्चलता आदि अनेकों जागतिक भावोंके स्रोतसे संगमित तुम्हारी लीलामन्दाकिनी प्रसरित होती रहती है—विश्वके इन समस्त भावोंके अनुरूप ही तुम सदा अपने लीलाविलासका विस्तार करते रहते हो! ऐसा इसलिये, नाथ! कि अपने स्वजनोंके प्रति तुममें अपरिसीम कृपा भरी है। और इसीलिये जो एकमात्र तुम्हारे ही पादपद्मोंके आश्रित हैं, तुम्हारे चरणसरोरुहकी शीतल छायामें ही जिनका नित्य निवास है, उन अपने निजजनोंको, शरणागत भक्तोंको अपरिसीम अनन्त आनन्दका दान करनेके लिये ही तुम्हारी यह सब रचना है। उनका नित्य-निरन्तर आनन्दसंवर्धन करते रहनेके लिये ही तुम सर्वथा निष्प्रपञ्चका इस जगत्में भूतलपर अवतरण है, प्रापञ्चिक लोकव्यवहारका, लीलाविलासका विस्तार है, विभो!'—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३७)

रहित प्रपंच नाथ सब काला।
पुनि अनुकरम करहु जिमि बाला॥
जे प्रपन्न जन, तिन के हेतू।
लीला करि तिन कहँ सुख देतू॥

'किंतु इस विषयमें ऊहापोहका मेरा यह प्रयास सचमुच कोई अर्थ नहीं रखता, स्वामिन्!' व्रजराजकुमारकी अचिन्त्य महिमाके सम्बन्धमें पितामह कुछ भी 'इत्थम्भूत' निर्णय दे देनेसे शङ्कित होकर कहने लगते हैं—'तुम्हारा स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, लीलाविलास—सब कुछ अचिन्त्य, अतर्क्य है प्रभो! तुम्हें, तुम्हारे सम्बन्धमें मन-बुद्धिके द्वारा कोई भी कुछ भी जान ले—यह सम्भव नहीं है, महामहिम! यदि कोई तुम्हें जानते हैं—भगवत्-तत्त्व जान लेनेका किन्हींको अभिमान है तो वे जानते रहें। क्या लाभ है उनके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें कहकर उनकी मूढ़ताका प्रदर्शन करनेसे! आवश्यकता भी नहीं है इस सम्बन्धमें बहुत बात बढ़ानेकी। बस, मैं तो अपने लिये कह सकता हूँ और इतना ही पर्याप्त है, भगवन्! सचमुच चतुर्वेदके

आदिप्रवर्त्तक मुझमें, मेरे मनमें, मेरी वाणीमें, मेरे शरीरमें यह सामर्थ्य नहीं कि उसके सहारे तुम्हारी महिमाका ज्ञान प्राप्त हो जाय। मेरा मन तुम्हारे अचिन्त्य वैभवसिन्धुकी बिन्दुकणिकाका भी स्पर्श पा लेने योग्य नहीं, स्वामिन्! तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शन कर लेनेपर भी मेरे चक्षु आदि इन्द्रियोंके लिये तुम अगोचर ही बने हो, देव! मेरी वाणी तुम अनन्तका यथार्थ प्रवचन कदापि नहीं कर सकती, प्रभो!'—

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३८)

जो कोउ कहै प्रभु-वैभव जितौ।
हम सम्यक जानत हैं तितौ॥
जानहुँ ते जानहुँ जो जब घर।
मो तैं तौ मन-बचन-अगोचर॥

× × ×

कहत मूढ नर कोइ, प्रभु-वैभव हम जानि सब।
तन मन बचनहुँ जोइ, मो कहँ तव महिमा अगम॥

अस्तु, इतनी देरतक किये हुए स्तवनके प्रभावसे अब स्रष्टापर व्रजराजकुमारकी कृपा विशेषरूपसे लहरा उठती है। जगत्-कर्तृत्व, जगदीशत्व आदिका अभिमान तो कभीका विगलित हो चुका था, इस कृपावारिने उसके चिह्नतक धो दिये! परम दैन्यकी सदाके लिये प्रतिष्ठा हो गयी वहाँ। व्रजेन्द्रनन्दनके नित्य दास होनेका विशुद्ध अभिमान जाग उठा। स्रष्टाकी समस्त धारणाएँ बदल गयीं। फिर तो और कुछ अधिक कहनेकी, निवेदन करनेकी आवश्यकता ही कहाँ रही। हाँ, स्वामीकी अनुमति लेकर ही, पूर्ण समर्पण एवं निर्भरताकी भावनामें निमग्न होकर ही अपने स्थानपर लौटा जा सकता है। यही दासोचित आचार है और इसीका पालन करते हुए पितामह कहने लगते हैं—'श्रीकृष्णचन्द्र! स्वामिन्! अब मुझे आज्ञा करो, मैं अपने स्थानपर ही केवल तुम्हारी सौंपी हुई सेवाका निर्वाह करनेके लिये लौट जाऊँ। अब और कुछ नहीं कहना है, नाथ! आवश्यकता ही नहीं है कहनेकी। तुम सर्वसाक्षी जो हो! सब कुछ पहलेसे ही तुम जानते रहते हो, भगवन्! साथ ही यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुममें ही तो अधिष्ठित है, विभो! एकमात्र जगन्नाथ तुम्हीं तो हो! मेरे स्वामी भी तुम्हीं हो, श्रीकृष्णचन्द्र! आजतककी मेरी ममतास्पद, अहंतास्पद वस्तुएँ—मेरा जगत्, मेरा यह शरीर—सब कुछ तुम्हें ही समर्पित है, मेरे परमाराध्य! तुम्हारी ही वस्तुएँ तुम्हें अर्पित हैं, भगवन्! अब आगे मुझ दासके लिये मेरे शक्ति-सामर्थ्य, अधिकारके अनुरूप सर्वोत्तम व्यवस्था तुम स्वयं अपने-आप करोगे ही, नाथ!'—

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३९)

जग-अधीस कौ तजि अभिमाना।
अब बोल्यौ, सुनु! कृपानिधाना॥
तुम सर्वग्य, अग्य मैं, नाथा।
यातें बिनय सुनिय, जदुनाथा॥
किंकर जानि, नाथ! निज मोही।
आयसु कछु कीजै जिय जोही॥

और अब अन्तमें वेदगर्भका यह बृहत् स्तवन सम्पुटित हो जाता है श्रीकृष्णनमस्कारसे ही। इसका उपक्रम भी हुआ था व्रजेन्द्रनन्दनकी चरणवन्दनासे; उपसंहार भी हो रहा है उनके ही पादपद्मोंमें प्रणामसे। पितामह अपना नमस्कार निवेदन करते हुए—कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं अनुभव करनेपर भी—दासोचित दीनतासे सनकर इतना और कह जाते हैं—'श्रीकृष्णचन्द्र! अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे सबके चित्तको आकर्षित करनेवाले नीलसुन्दर! मेरे मन-प्राण भी अब सदाके लिये आकर्षित होकर निमग्न हो जायँ इसी श्यामलसौन्दर्य-सिन्धुमें। और जैसे यदुवंशरूप पद्म विकसित हुआ है तुम्हारे दर्शनसे ही, भुवन-भास्करस्वरूप हो तुम इस वृष्णिकुलकमलको प्रस्फुटित कर देनेके लिये, वैसे ही तुम्हारी यह पद्मज-संतान मैं भी सतत प्रफुल्लित हो जाऊँ तुम्हारे कृपाकटाक्षको निहारकर। अहा! तुम्हारे आविर्भावसे ही धरा, देवगण, द्विजवृन्द, धेनुसमूहरूप सागर उद्वेलित हुआ है, इन्हें

तुमने अपूर्व समृद्धिका दान किया है, इनकी अभिवृद्धिके लिये तुम चन्द्ररूप हो गये हो, प्रभो! अतएव मुझ देवाधमका संवर्धन भी तुम नन्दकुलचन्द्रके द्वारा ही सदैव होता रहे—यह उचित ही है, नाथ! प्रभो! पाखण्डधर्मरूप रजनीके घोर अन्धकारको विनष्ट कर देनेके लिये तुम सूर्यरूप हो, चन्द्ररूप हो। मेरा हत्तल भी अब सदाके लिये आलोकित रहे तुम्हारे दक्षिणनेत्ररूपी सूर्यदेवकी निर्मल रश्मियोंसे, मेरा कण-कण उद्भासित बना रहे इस वामदृग्रूप चन्द्रकी शुभ्र ज्योत्स्नासे, जिससे कि मैं फिर कभी भ्रान्त न हो सकूँ; कभी अपने स्वामीपर मायाविस्तार करनेकी, अपने प्रभुके प्रति पाखण्ड रचनेकी वृत्ति मेरी चित्तभूमिमें उदित न हो सके, यह तिमिर कदापि प्रविष्ट न हो सके मेरे मानसतलमें। स्वामिन्! पृथ्वीके भार होकर उत्पन्न होनेवाले राक्षसोंका विमर्दन करनेवाले हो तुम, ऐसा सूर्यके समान दुष्प्रधर्ष तेज है तुम्हारा। किंतु इनसे द्रोह करके भी तुम इन्हें सुदुर्लभ अपनी गतिका ही दान करते हो, दयामय! कितनी अनुकम्पा भरी है इस दण्ड-विधानमें! बस, तुम्हारा यह तेज सदा मुझे भी अभिभूत किये रहे। तुम्हारा कृपासे परिपूर्ण यह शासन मुझपर भी अनन्तकालतक बना रहे। ब्रह्मराक्षसके तुल्य ही आचरण करनेवाला—तुम्हारे प्राणस्वरूप पार्षद गोपशिशु एवं गोवत्सोंसे विद्रोह करनेवाला सत्यलोकका यह उच्छृङ्खल दास भी सदा इस शासनरूप अनुग्रहकी छायामें ही स्थित रहे। हे महामहिम! महान्-से-महान्के लिये सूर्य-चन्द्र-जैसे अत्यन्त तेजस्वी देवगणके लिये—सबके लिये तुम परम पूज्य हो। सभी निरन्तर तुम्हारी पूजा ही करते हैं। मेरी पूजा भी अङ्गीकार हो जाय, स्वामिन्! बस, इतनी-सी पूजा—मेरे जीवनके शेष क्षणतक, महाकल्पपर्यन्त तुम्हारे पादपद्मोंमें मेरा असंख्य प्रणाम स्वीकृत होता रहे, भगवन्!'—

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसघ्नु-
गाकल्पमार्कमहन् भगवन् नमस्ते॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४०)

इतनी माँगत, अहो अनंत।
बंदन करौं कल्प परजंत॥

× × ×

जदुकुल जलरुह नवल इव, ताहि सुखद जनु सूर।
धेनु बिप्र छिति सिंधु हित, सुखकर जनु बिधु पूर॥
छिति पर निसिचर घोर, कंसादिक तम सरिस जग।
तिन कहँ रबि कर जोर, तुम नासे प्रभु छिनक महँ॥
जग पाखंड धर्म तम भारी।
तिन कहँ रबि-ससि सम असुरारी॥
तरनि आदि जग तेज जहाँ ते।
तव कटाच्छ लहि भास तहाँ ते॥
बार-बार प्रभु! बिनवौं तोही।
करेहु अनुग्रह अतिसै मोही॥

इस प्रकार पितामहके स्तवनका विराम हुआ और तब उनके आठों नेत्र व्रजराजकुमारके मुखचन्द्रसे जा लगे। वहाँ तो सदा सबके लिये—जो भी कातर होकर आँखें उठाता है, उसके लिये परम आश्वासन भरा ही है। अनादिकालसे अबतक किसे निराशा मिली है नीलसुन्दरके उन सलोने दिव्य दृगोंसे? इसीलिये स्रष्टाके प्राण भी शीतल हो गये। किंतु अब उन्हें शीघ्रातिशीघ्र इस स्थलका परित्याग कर देना है, यह संकेत भी प्राप्त हो चुका है। इसीका अनुगमन वे करते हैं। अपूर्व लहराती हुई भक्तिके आवेशमें वे भूमापुरुष बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी तीन बार परिक्रमा करते हैं, यह सम्पन्न होनेके अनन्तर उनके पादपद्मोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते हैं। बस, अब उन्हें यहाँसे चलना है अपने गन्तव्य स्थान सत्यलोककी ओर। इसीके लिये मौन आदेश है महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका। किंतु ठीक इसी क्षण प्राणोंमें एक स्नेहार्द्र स्पन्दन होने लगा—'अधिक नहीं, दो-एक शब्द भी प्रभुके मुखारविन्दसे मेरे लिये निस्सृत हो

जाते, अहा! श्रवणेन्द्रिय सदाके लिये कृतार्थ हो जाती।' कहना नहीं है कि वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजराजकुमार अपने नाममात्रके भृत्योंके सूक्ष्मतम, नगण्य-से-नगण्य मनोरथका भी कितना आदर करते हैं। और चतुर्मुख तो आज अपना सर्वस्व न्योछावर कर उनके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं। उनके प्राणोंकी यह वृत्ति असफल लौट आये, सो भी व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर ताककर—यह भी सर्वथा असम्भव है। देखते-ही-देखते बाल्यावेशके अन्तरालसे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य झाँककर स्रष्टाके कर्णपुटोंमें पीयूष-सागरका सृजन कर देता है। पितामहके नेत्र तो स्थिर हैं श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंके कम्पयुक्त स्मितपर तथा श्रोतोंमें भर रही है उनकी सुधास्यन्दिनी वाणी। स्रष्टा एक बार तो स्तब्ध हो गये, पर प्राणोंको वाञ्छित प्राप्त हो गया। व्रजराजकुमारने स्रष्टाके उद्देश्यसे इतना-सा कह ही दिया—

तुम ग्याता सब धर्म के, तुम तैं सब संसार।
मेरी माया अति अगम, कोउ न पावै पार॥
श्रीमुख बानी कही, बिलँब अब नैकु न लावहु।
ब्रज परिकर्मा करहु, देह कौ पाप नसावहु॥

ओह! इस समयकी अनुभूति उनके वेदज्ञानके आधारपर निर्मित किसी भी शब्दसे तो व्यक्त होनेसे रही। फिर तटस्थ कोई कहे तो क्या कहे। सचमुच कुछ ऐसा-सा हुआ, मानो पितामहके मन-प्राण विलीन हो गये वहीं, उस वृन्दाकाननके आकाशमें, उन श्रीकृष्णचन्द्रके सुधारसपूरके समान कतिपय शब्दोंकी तरंगोंमें। मन-प्राणकी छायामात्र अवशिष्ट रही स्रष्टाके उस कलेवरमें, जिन्हें लेकर वे सत्यलोककी ओर चल पड़े—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४१)

बार बार परिकर्मा दै कै।
सुंदर बदन बिलोकन कै कै॥
चल्यौ नाथ कौं माथ नवाइ।
अधिकारी पै रह्यौ न जाइ॥

× × ×

एहि बिधि बिधि अस्तुति बहु करेऊ।
तीनि प्रदच्छिन करि पग परेऊ॥
प्रभु-स्वरूप निज हिय महँ राखी।
भवन गयौ, बहु बिनती भाखी॥

इतना ही नहीं, व्रजराजकुमारकी अपरिसीम कृपाका एक निदर्शन पितामहको और भी प्राप्त हुआ था—जिसे वे उनके समक्ष उपस्थित रहते समय जान नहीं पाये, देख नहीं सके। कैसे, कब हुआ, इसकी मीमांसा तो सम्भव नहीं हुई; किंतु जब जगद्विधाता व्रजराजकुमारके चरणप्रान्तसे चलकर, वृन्दारण्यकी, व्रजपुरकी प्रदक्षिणा कर स्वधाम—सत्यलोकके पथमें अग्रसर हो रहे थे, उस समय उन्हें दीखा—वृन्दावनविहारी नीलसुन्दरने अपने वक्षःस्थलको सुशोभित करनेवाली वनमाला उनके उरपर झुला दी है—

करि अस्तुति ब्रह्मा चले, हरि दीन्ही उर हार।

इस वनमालाके दर्शनसे स्रष्टाकी क्या दशा हुई, इसे कौन बताये। इसे वे ही जानते हैं और जानते हैं अन्तर्यामी। शरीरमें अवशिष्ट वह चेतनाकी छाया भी मानो पुनः लौट आयी व्रजपुरकी रजकणिकामें ही समा जानेके लिये। किंतु सृजन-व्यवहारका निर्वाह भी तो अनिवार्य है। महाकल्पके मध्यमें अनादिकालसे आजतक किसी भी ब्रह्माका परिवर्तन हुआ जो नहीं। इसीलिये व्रजराजनन्दनकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने स्रष्टामें समयोचित धैर्यका विकास किया। वे प्रकृतिस्थ कर दिये गये। अवश्य ही अभी भी उनका अणु-अणु पुकारता जा रहा है—

धनि बछरा, धनि बाल, जिनहिं तैं दरसन पायौ।
उर मेरौ भयौ धन्य, कृष्न माला पहिरायौ॥
धनि जसुमति, जिन्ह बस किये अबिनासी अवतारि।
धनि गोपी, जिनकैं सदन माखन खात मुरारि॥

धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्य ये ब्रजके बासी।
धन्य जसोदा-नंद, भक्ति-बस किय अबिनासी॥
जोगी जन अबराधि फिरत जिहि ध्यान लगाऐं।
ते ब्रजबासिनि संग फिरत अति प्रेम बढ़ाऐं॥

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने अनन्त ऐश्वर्यके आवरणको वहीं, पूर्वकी भाँति, बाल्यावेश-रससिन्धुकी ऊर्मियोंमें ही डुबाकर उन्मुक्त विहार करने लग जाते हैं, उन लहरोंमें ही अवगाहन करने लगते हैं। बङ्किम नयनसरोजोंमें गोवत्सोंकी प्रतीक्षा झाँकने लगती है। एक वर्ष पूर्व जैसे उस दिन गोवत्स-अन्वेषणके प्रयाससे उनके सुन्दर भाल एवं सुचिक्कण कपोलोंपर प्रस्वेद-बिन्दुके दर्शन होने लगे थे, ठीक वैसी ही शोभासे श्रीकृष्णचन्द्रका मुखचन्द्र रञ्जित हो उठा। किंतु अब तो पट-परिवर्तन हो चुका था, दूसरे दृश्यकी अवतारणा अपेक्षित है। अतएव अविलम्ब वे सर्वथा सामनेके ही तृणसंवलित सुविमल भूभागकी ओर देखने लगते हैं और तुरंत उन्हें दीख जाता है—'अहा! यह रही गोवत्सराशि! नवतृणाङ्कुरोंका आस्वादन ले-लेकर ये मेरे वत्ससमूह परमोल्लासमें भरे कितने हर्षसे संचरण कर रहे हैं!'—

भुवि सुविमलायां नवतृणाङ्कुराचामोदारमोदा रभसेन चरन्ती पूर्ववत्सा वत्सावलिरथ रथचरणपाणिना ददृशे।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पितामहके द्वारा स्थानान्तरित किये हुए, किसी निभृत गिरिगह्वरमें स्थापित वे गोवत्स तुरंत वहाँ कैसे आ गये—इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि एक ओर पितामह रङ्गमञ्चसे अदृश्य होने चले, तथा दूसरी ओर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाने उन अनन्त गोशावकोंको उस मृदुल तृणमयी भूमिपर उपस्थित कर दिया, उनपरसे अपनी छाया अपसारित कर ली और वह वत्ससमूह पहलेके समान ही—सर्वथा एक वर्ष पूर्वकी, उस क्षणकी मुद्रा एवं स्वभावमें अवस्थित होकर ही—वहाँ घूमने लग गया। इतना ही नहीं, वे असंख्य गोपशिशु भी वहीं तरणितनयाके पुलिनपर उसी प्रकार विराजित कर दिये गये। भावसमाधिसे जागे हुए उन शिशुओंके नेत्रोंमें भी वैसे ही उनके कन्हैया भैया भर आये, सर्वथा वैसे ही वे देखने लग गये—'अरे, वह देखो, वहाँ है कन्नू, उस तमालश्रेणीके अन्तरालमें!' साथ ही पुलिनका सूक्ष्मतम अंशतक पूर्ववत् साज-शृङ्गारसे सुसज्जित हो उठा। वे शृङ्ग, वेणु, वेत्र, छीके, वे कमलपत्र, कमलदल आदिसे निर्मित भोजनपात्र—और तो क्या, विविध फलोंसे निकाले हुए, दूर निक्षिप्त हुए छिलकेतक—सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों यथास्थान व्यक्त हो गयीं।

अब एक बार वहाँका समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो उठता है श्रीकृष्णचन्द्रके सुमधुर वंशीरवसे। तृण चरते हुए उन असंख्य गोवत्सोंके कर्णपुटोंमें भी यह झंकृति जा पहुँचती है। वास्तवमें इस समय वंशी बजी ही है उनके उद्देश्यसे, उनका आह्वान करनेके लिये, उनको एकत्र कर लेनेके लिये। अपने चिरपालकके संकेतोंसे वे सर्वथा परिचित भी हैं। इसीलिये क्षणभरका भी विलम्ब नहीं होता। ओह! अर्द्धचर्वित तृणाङ्कुर मुखसे फेंक-फेंककर वे सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आकर उन्हें वेष्टित कर लेते हैं। और तब व्रजेन्द्रनन्दन भी उनको लेकर—जहाँ एक वर्ष पूर्व वे अपने सखा गोपशिशुओंके साथ वन-भोजनके परमानन्दमें विभोर हो रहे थे—उस यमुनापुलिनपर ही चले आते हैं—

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान्।
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४२)

कालमानसे एक वर्षकी अवधि समाप्त हो चुकी है, इतने समयके पश्चात् वे गोपशिशु अपने जीवनसर्वस्व प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्रसे मिल रहे हैं। किंतु उन्हें तो यही अनुभूति है कि आधा क्षण बीतते-न-बीतते उनके कन्हैया भैया गोवत्सोंको ढूँढ़कर साथ लिये वहाँ उनके समीप आ पहुँचे हैं। वर्षव्यापी श्रीकृष्णवियोगकी गन्धतक उन्हें नहीं मिली; क्योंकि योगमायाशक्तिके

अमित प्रभावसे उनके ज्ञानका वह अंश आवृत हो चुका था। ऐसी कल्पना उदय होनेतकके द्वार रुद्ध कर दिये गये थे। कालजनित अवश्यम्भावी परिणामपर भी योगमायाने अपनी तूलिका फेर दी थी। बालकोंकी भोजन-सामग्री, मोदक, शाक, व्यञ्जन आदि भी पर्युषित न हो सके, सर्वथा अविकृत ज्यों-के-त्यों वे सब-के-सब हैं। पुष्पपल्लवरचित भोजनपात्रोंकी चमक-दमक भी वैसी ही है, यहाँतक कि उनके मुखके अर्द्धचर्वित ग्रासका स्वाद भी वैसा ही बना है। कोई चिह्न नहीं जिसके आधारपर वे इस वियोगका आभास पा ले सकें। फिर भी इसमें विस्मयके लिये कोई स्थान नहीं। प्राकृत मन भले ही श्रीकृष्णचन्द्रकी योगमायाके अनन्त अघटनघटनसामर्थ्यका अनुसंधान पानेमें कुण्ठित हो जाय, उस चिन्मय वैभवके कणमात्रको भी छू लेनेमें सदा असमर्थ बना रहे; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी दुरत्यय गुणमयी मायाशक्तिके प्रभावसे तो वह चिरपरिचित है ही। ओह! उससे मोहित हुए जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते? जगत्‌के समस्त जीवोंकी कैसी दशा है! अनादि बहिर्मुखताके कारण इसी मायासे वे सब-के-सब मोहित हो रहे हैं, मोहित होकर अपने आत्मस्वरूपको ही भूले हुए हैं तथा इसी आत्मविस्मृतिका यह परिणाम है कि देहको 'मैं' एवं पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, विषय-सम्पदाको ही 'मेरा' अनुभव कर वे अशेष भवयन्त्रणाकी पीड़ा निरन्तर सह रहे हैं! अनन्त शास्त्र अपने आलोकका दान कर रहे हैं जीवोंकी अनादि अज्ञान-रात्रिका तिमिर हर लेनेके लिये। अगणित आचार्य, संत-महंत द्वारपर आते हैं अज्ञाननिद्रासे जगाकर उसे प्रबुद्ध कर देनेके लिये। पर जीवकी मोहनिशा समाप्त नहीं होती, वह जागता नहीं। आँखें खोलकर वह देखता नहीं, महाप्रबोधको सुनकर भी उसे अपने स्वरूपकी अनुभूति नहीं होती, इतना समझानेपर भी वह निरन्तर अपने-आपको भूले ही रहता है। ऐसा दुरन्त प्रभाव है श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बहिरङ्गा मायाशक्तिका ही। फिर उनकी योगमायाके विलासका—उनकी अन्तरङ्गा शक्तिकी महामोहनताका रूप कितना अद्भुत है, हो सकता है—यह कौन कह सकता है? जो हो, व्रजेन्द्रनन्दनकी योगमायाके महाप्रभावसे ही गोपशिशुओंको इस श्रीकृष्ण-विच्छेदका अनुभव ही नहीं हुआ तथा एक वर्षकी अवधि उन्हें क्षणार्धमात्र प्रतीत हुई—

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः।
कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः॥
किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः।
यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४३-४४)

बीत्यौ जदपि बरष इक काल, बिछुरे सुंदर मोहनलाल।
तदपि अर्द्ध छिन मानत भए, अद्भुत प्रभुकी माया छए॥
कवन-कवन माया नहिं भूले, जगत-हिंडोरे बहु झूले।
ये कछु माया करि नहिं मोहे, प्रभु की इच्छा करि अति सोहे॥

किंतु उनके अनुभवका वह आधा क्षण ही उनके समस्त आनन्दोच्छ्वासको प्रशमित कर देनेके लिये पर्याप्त था। भोजन करते-करते बीचमें ही उनके प्राणाराम कन्नू भैयाका उन्हें छोड़कर चला जाना साधारण घटना नहीं है। यद्यपि निर्निमेष नयनोंसे वे मानो सतत देख-से भी रहे थे अपने कन्हैया भैयाको ही, पर पुलिन-भोजनके उल्लासका स्रोत तो सर्वथा रुद्ध हो चुका था। इसीलिये अब इस समय जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उनके समीप आते हैं कि बस, प्रत्येक शिशुकी धमनीमें तड़ित्-लहरी-सी दौड़ जाती है। ओह! उनके प्राणोंकी वह उत्कण्ठा, नीलसुन्दरके स्वागतकी प्रेमिल त्वरा, उनके रोम-रोमसे प्रसरित आनन्दकी वह कल्लोलिनी—श्रीकृष्णचन्द्र तो बहने-से लग जाते हैं इसी धारामें! एक साथ समस्त शिशु अपने-अपने आसनसे उठ पड़ते हैं। किसीने नीलसुन्दरके करपल्लवको अपने हाथमें लिया। एकने उनकी ग्रीवामें अपनी भुजाएँ डाल दीं; उसके युग्म करतल विभूषित हैं अन्नग्राससे, मुट्ठियाँ बँधी हैं और वह झूल रहा है अपने कन्हैया भैयाके कण्ठदेशमें! कुछ शिशुओंने पीत दुकूलके भिन्न-भिन्न अंश धारण कर लिये। कैसे हुआ, इसका समाधान बहिर्मुख मन तो पानेसे रहा;

पर सचमुच हुआ यह कि क्षणमात्र पूर्ण होनेसे पूर्व ही वे असंख्य शिशु अपने प्राणसखाके श्रीअङ्गोंसे जा चिपटे; सबने स्पर्श पा लिया, प्राणोंकी प्रथम ललक पूरी कर ली। श्रीकृष्णचन्द्र भी उनके मध्यमें विराजित रहकर, स्वयं भी इस अप्रतिम सख्यरस-सुधाका अविराम पान करते हुए झूल रहे हैं; तुमुल आनन्दकोलाहलके नादसे निनादित होकर वहाँकी वनस्थली भी झूम रही है। चर, अचर, स्थावर, जंगम—सभी स्पन्दित हो रहे हैं। अस्तु, मिलनसुखका आवेग शान्त होनेसे पूर्व ही कतिपय वयस्क शिशु अतिशय उतावले होकर बोल उठे—'अरे भैया कन्नू! तुम भले आये। आशा नहीं थी, पर तुम तो इतनी शीघ्रतासे वत्सोंको लेकर लौट आये कि क्या कहें!' इतनेमें तोक अतिशय सरस स्वरमें कहने लगता है—'इसीलिये तो मैंने स्वीकृति दी थी, मैं तो जानता ही था कि कन्हैया भैयाने वंशी बजायी और बस, तरुश्रेणीकी ओटमें बिखरे हुए, दूर चले गये गोवत्स दौड़कर बाहर आ जायँगे, मिल जायँगे और तब हमलोग कन्हैया भैयाके साथ भोजन करेंगे!' फिर तो अपने प्राणोंका समस्त प्यार लेकर सभी शिशु एक स्वरमें पुकार उठते हैं—'भैया रे! आ जा, देख ले, तेरे बिना एक भी ग्रास हम अपने मुखमें न रख सके। और यह ले, आह! अबतक तूने भी एक कौर नहीं खा पाया, हाथका ग्रास हाथमें लिये ही तू लौट आया। नहीं-नहीं, अब तनिक भी विलम्ब मत कर, चल, अब सुखपूर्वक भोजन तो कर ले।'

ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४५)

मोहे-से तब कहत हैं ग्वाल, बेगिहिं आए मोहनलाल।
एकौ कवल न पावन पायौ, भैया! तो बिनु जाइ न खायौ॥
तैंहूँ तौ हम बिन नहिं खायौ, हाथ कवल वैसैं ही आयौ।
आवहु, बैठहु, भोजन करैं, इत ये बच्छ कच्छ में चरैं॥

शिशुओंकी इस उक्तिके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर एक समुज्ज्वल हास भर जाता है—

जब ऐसैं बोले ब्रजबाल, बिहँसन लागे नँदके लाल।

भुवनभास्कर पश्चिम गगनमें ढल चुके हैं। श्रीकृष्णचन्द्र कलिन्दनन्दिनीके उस पुलिनपर अपने पूर्वके आसनपर ही सखाओंसे आवृत होकर उनके साथ भोजन करते हैं! परमानन्दमें भरकर शिशु अपने इच्छित भोजनद्रव्योंको पूर्वकी भाँति ही कन्हैया भैयाके हाथपर, मुखमें रखते जा रहे हैं और बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र, उनकी प्रीतिके उपहारका रस लेते हुए, सराहना करते हुए हँस-हँसकर भोजन कर रहे हैं; साथ ही अपनी रुचिकी खाद्य वस्तु अपने सखाओंके होठोंपर रखकर सुखसे विभोर होते जा रहे हैं—

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः।
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४६)

मंडल करि बैठे पुनि आछें, जैसें जान बन्यौ हौ पाछें।
अति रुचि सौं मिलि भोजन करयौ, इहि बिधि वा बिधि कौं मद हरयौ॥

उधर सत्यलोकमें अभी भी स्रष्टाकी विचित्र ही दशा है। वे ब्रह्मपदके आसनपर आसीन अवश्य हैं; किंतु उनके सामनेसे इस समय 'तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः'—इन लोकोंका व्यवधान अन्तर्हित हो चुका है और वे व्रजराजकुमारके पुलिन-भोजनके प्रत्यक्ष दर्शन पा रहे हैं। पुनः उनका धैर्य शिथिल हो गया है एवं प्राणोंमें एक रसमय हाहाकारकी लहर-सी उठ रही है—'आह! कदाचित् मेरा कौएका शरीर होता! फिर तो मेरे सौभाग्यकी सीमा नहीं रहती! प्रभु व्रजराजकुमारके अधरामृतसे सिक्त दधिमिश्रित इन बिखरे हुए अन्नकणोंको अपनी चोंचसे चयनकर, इस सुविमल दिव्यातिदिव्य सीथ-प्रसादसे उदरपूर्ति करके मैं कृतार्थ हो जाता।'

सीथ जु परैं दही-रस भरे, सदन जाइ बिधि लालच खरे।
काक न भयौ, फिरयौ इतरातौ, चुनि-चुनि सुंदर सीथन खातौ॥

एक वर्षके व्यवधानके बाद श्रीकृष्णका पुनः ब्रह्माजीके द्वारा अपहृत गोपबालकों एवं गोवत्सोंके साथ व्रजमें लौटना और बालकोंका अपनी माताओंसे अघासुरके वधका वृत्तान्त इस रूपमें कहना मानो वह घटना उसी दिन घटी हो; व्रजगोपियों तथा व्रजकी गायोंके स्नेहका अपने बालकों एवं बछड़ोंसे हटकर पुनः पूर्ववत् श्रीकृष्णमें ही केन्द्रित हो जाना

श्रीकृष्णचरण-सरोजोंसे स्पृष्ट हुआ अजगरका वह मृत शरीर अभी भी ज्यों-का-त्यों बना है—ठीक इस प्रकार, मानो आज अभी कुछ समय पूर्व ही अघासुर-मोक्षकी लीला सम्पन्न हुई हो। एक वर्षपर्यन्त व्यतीत हुए कालकी प्रतिक्रिया उसपर भी तनिक-सी नहीं हुई। योगमायाकी छायाने उसे ढककर वैसे ही अविकृत बने रहने दिया—

योगमायैव तावत्कालपर्यन्तं तत्तदाच्छादितमासीदिति ज्ञेयम्।

(सारार्थदर्शिनी)

अस्तु, इसीकी ओर व्रजेन्द्रनन्दन अपने सखाओंका ध्यान आकर्षित करने लगते हैं। वन-भोजनके अनन्तर वनसे व्रजमें लौटते हुए वे जान-बूझकर इसी पथसे आये और उस महाविशाल सर्पके मज्जारक्तपङ्किल प्राणशून्य कलेवरकी ओर संकेत कर बोले—'अरे भैयाओ! मरा हुआ साँप तो वैसे ही पड़ा है, उधर भी पुनः देख भर लो तो सही।' फिर तो कतिपय चञ्चल शिशु उसी ओर छूट पड़े, हर्षातिरेकवश उच्चस्वरसे पुकार उठे—

अहो महोज्ज्वलं नः खेलागह्वरमिदं जातमिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे, रे, भैया! यह तो हमलोगोंके खेलके लिये एक बड़ी ही सुन्दर गुफा बन गयी रे!'

किंतु अब संध्याके किञ्चित् रक्ताभ श्याम परिधानकी आभा वनप्रान्तरोंमें, आकाशमें परिव्याप्त हो चुकी थी। कौतुकका अब समय जो नहीं रहा था। साथ ही अजगरके चर्मको दिखानेका उद्देश्य तो था कि बस, अतीतका संस्मरणमात्र उद्बुद्ध हो जाय। वह हो चुका। अतएव श्रीकृष्णचन्द्र उन शिशुओंको निवारणकर झूमते हुए आगे ही बढ़ते चले गये, वे व्रजकी ओर ही अग्रसर होने लगे—

दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम्।

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४६)

चले घरनि अजगरहि दरसते, हियनि सरसते, सुखन बरसते।

× × ×

गृह कहुँ चले बाल लिएँ साथा।
अजगर-चर्म देखावत नाथा॥

और इस व्रजप्रवेशके समय उनके महामरकत-श्याम श्रीअङ्गोंकी निराली शोभा, उनकी विविध रसमयी चेष्टाएँ और व्रजपुरन्ध्रियोंकी प्रतीक्षा—बस, देखते ही बनती है। मस्तक तो मयूरपिच्छनिर्मित मनोहर मुकुटसे मण्डित है। घुँघराली अलकोंमें विविध वर्णके मँह-मँह करते हुए कुसुमसमूह गुम्फित हो रहे हैं। अन्य अङ्गोंमें भी यथायोग्य कुसुमोंके ही आभरण सुशोभित हैं। अत्यन्त नवीन, रंग-बिरंगी गैरिक आदि वन्यधातुओंसे श्याम कलेवरपर सुन्दरातिसुन्दर विविध चित्रोंका निर्माण किया हुआ है। अपने बिम्बविडम्बी अधरोंपर कभी तो वे वंशीको धारणकर उससे अनेक रसमय अत्यन्त स्फुट स्वरोंका सृजन करते हैं, कभी तरुपत्रोंको मोड़कर बनाये हुए वाद्ययन्त्र (सीटी) में अपने परम सुरभित मुखश्वास भरकर

अद्भुत मनोहर रागकी एक ऊँची अतिशय मधुर तान छेड़ देते हैं और कभी गूँज उठता है उनका मेघगम्भीर शृङ्गनाद। इस प्रकार वाद्योत्सवमें वे निमग्न हो रहे हैं। उनकी वह सखामण्डली परमानन्दमें डूब रही है। प्रत्येक शिशु अपने हृत्तलके सुखको अवरुद्ध करनेमें असमर्थ होकर मधुर उच्च स्वरसे उनकी ही पवित्र कीर्तिका गान कर रहा है, प्रत्येकके कण्ठसे व्रजेन्द्रनन्दनकी ही प्रशंसाके गीत झर रहे हैं; सर्वथा अपनी ही प्रतिभासे रचित एवं तालबन्धके साथ गाये हुए उन मधुर गीतोंमें एकमात्र भरा है नन्दनन्दनके सुयशका वर्णन, अघासुर आदिके उद्धारके समय व्यक्त हुई उनकी बाल्यचेष्टामयी पुनीत कीर्तिका चारु चित्रण और फिर वे नन्दलाडिले सहसा कभी इन समस्त गान-वाद्यके राग-रंगका विराम करके उन गोवत्सोंका नाम ले-लेकर आह्वान करने लगते हैं, इस अद्भुत गान-वाद्यके उत्सव-सुखसे विभोर, विह्वल, उच्छृङ्खल हुई अपार गोवत्सराशिको संयत करने लगते हैं; अपने परम सुखद करस्पर्शके दानसे, अनेक नवीन-नवीन प्रेमिल चेष्टाओंसे इनका उपलालन करते हुए इन्हें बुला-बुलाकर गन्तव्य दिशाकी ओर प्रेरित करने लगते हैं। उधर प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये वात्सल्यवती गोपसुन्दरियाँ अपने समस्त कार्य स्थगितकर, सब कुछ विसर्जितकर—भूलकर एकमात्र इनकी ही आकुल प्रतीक्षामें उन्मादिनी-सी हुई अपने द्वारोंपर आकर खड़ी हैं; उनके नेत्र केन्द्रित हैं उस दिशामें, वनके उस पथकी ओर ही, जिधरसे ये व्रजेन्द्रनन्दन आयेंगे—नहीं-नहीं, आ रहे हैं। वंशीनाद गूँज जो रहा है। अहा! वह देखो, वे रहे उनके प्राणाराम श्रीकृष्णचन्द्र! दृगोंमें वह श्याम-ज्योति पूरित हो गयी। फिर कहाँ सम्भव है इससे आगेकी दशाका चित्रण। जो हो, इस प्रकार अद्भुत—विचित्र साज-शृङ्गारसे विभूषित हुए, अपनी परम रमणीय चेष्टाओंसे पद-पदपर सुख-सरिताका सृजन कर उसमें अवगाहन करते हुए, सखाओंको निमग्न करते हुए गोपीजन-नयनानन्दवर्धन श्रीकृष्णचन्द्रने व्रजपुरमें प्रवेश किया—

बर्हप्रसूननवधातुविचित्रिताङ्गः
प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति-
र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४७)

गातनि धात के चित्र बनाए।
सीसनि मोर के चंद सुहाए॥
बेनु-सृंग-दल ललित बजावत।
नव-नव गीत पुनीतन गावत॥
पंकज फेरत, छरन घेरत।
लै-लै तिन के नाम निबेरत॥
गोपि-दृगन के उत्सव रूप।
ब्रज आए नँद-नंद अनूप॥
× × ×
बरह, सुमन, नव धातु अनूपा।
तिन करि तन चित्रित बहु रूपा॥
बेनु-सृंग-दल-रव अति सोहन।
करत हास-रस आवत मोहन॥
गनत बत्स, पोंछत करनि, मंद मंद मुसुकात।
गुन गावत आवत सखा, गोपिन सुखप्रद तात॥
एहि बिधि करत केलि जदुनंदा।
आए निज गृह आनँदकंदा॥

व्रजरानी एवं व्रजराजके कर्णपुटोंमें भी अपने नीलमणिके वंशीनादकी सुधा पूरित हो चुकी थी। दोनोंपर ही उसका उन्मादी प्रभाव व्यक्त हो चुका था। ध्वनिने उसके मन-प्राणोंको भी आकर्षित कर लिया था। और फिर वात्सल्य-स्नेहकी ऐसी प्रखर धारा उमड़ी कि हृदय विगलित हो उठा, मन-प्राणोंके पीछे वह भी बह चला उसी दिशामें तथा अब उनके शरीर प्रासादमें, गोष्ठमें अवरुद्ध रहें—यह कहाँ सम्भव था। और दिन तो गृहतोरणके समीप ही नीलसुन्दरकी बाट देखी जाती, पर आज देखते-ही-देखते व्रजदम्पति भी तोरणसे बहुत आगे विस्तीर्ण, उन्मुक्त राजपथपर आकर अवस्थित हो गये हैं—

स्नेहभरनिर्भरमिर्भुग्नहृदयाभ्यां तन्मुरलीनाद-गुणेनाकृष्टाभ्यां पितृभ्यां प्रतोलीतलमुपसेदे।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

वे न जाने और भी कितनी दूर आगे बढ़ जाते, पर उनकी आँखोंमें भी पूर्ण हो गयी वह इन्द्रनीलद्युति; वहींसे उन्हें मानो अपने प्राणोंकी एकमात्र निधि प्राप्त हो गयी। साथ ही सात्त्विक भावोंका उन्मेष हो आया। जड़िमासे समस्त अङ्ग अवश हो गये। जहाँ-के-तहाँ वे शान्त खड़े ही रह गये। उनमें गतिका संचार तो तब हुआ, जब नीलसुन्दर सर्वथा सामने निकट-से-निकट आकर उपस्थित हो गये अपनी जननीके भुजपाशमें बँध जानेके लिये। व्रजेश्वर तो एक-दो पग चलकर भी सजल नेत्रोंसे देखते ही रहे, पर व्रजरानी प्राणोंकी ललक लेकर दौड़ीं और श्रीकृष्णचन्द्रको उन्होंने अपने अङ्कमें धारण कर लिया। ओह! इस मिलन-सुखका वर्णन कोई कैसे करे। इसमें एक विचित्र विशेषता है। यह मिलन है तो एक दैनंदिनी घटना, पर प्रतिदिन ही इसमें गत दिवसकी अपेक्षा सुखकी एक ऐसी अभिनव अप्रतिम लहर परिव्याप्त हो जाती है, जिसकी झाँकी इस प्राकृत जगत्‌में कहीं सम्भव जो नहीं। कदाचित् वे चञ्चल असंख्य शिशु श्रीकृष्णचन्द्रके साथ न हों, अपनी विविध चेष्टाओंसे, तुमुल आनन्द-कोलाहलसे प्रतिदिन ही भावान्तर उत्पन्न कर देनेमें हेतु न बन जायँ, तो कहना कठिन है कि मैयाकी यह नित्य-नूतन सुखमयी मिलन-समाधि कितने कालके पश्चात् टूट पाये। और आज तो इन बालकोंको बड़ी त्वरा है उनकी एक विशेष घटना सुना देनेकी। इसीलिये शीघ्र-से-शीघ्र मैयाका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयास आरम्भ हो जाता है।

इन अगणित शिशुओंकी माताएँ वहीं खड़ी हैं। आज उन माताओंका ध्यान पुनः अपनी संतानकी ओर नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर है। निरन्तर एक वर्षतक अपनी ही संतानके प्रति उमड़ता हुआ प्यार आज सहसा अन्तर्हित क्यों, कैसे हो गया—इस ओर उनकी वृत्ति ही नहीं। मानो क्षणभरके लिये कभी कोई भी अन्तर उनके भावप्रवाहमें हुआ ही न था, सदा श्रीकृष्णचन्द्र ही उनके मन-प्राणोंमें समाये हुए हैं, इस प्रकार आकुल नेत्रोंसे वे नन्दनन्दनको निहार रही हैं। यन्त्रकी भाँति कतिपय गोपसुन्दरियोंने अपनी गर्भजात संतानको गोदमें भी उठा लिया, स्वाभाविक वात्सल्यवश हाथसे पुत्रके अङ्गका धूलि-सम्मार्जन भी वे करती जा रही हैं; पर उनके नेत्रोंमें भी भरे हुए हैं श्रीकृष्णचन्द्र। उनके प्राणोंकी वृत्ति भी समायी हुई है श्रीकृष्णचन्द्रमें ही, पर आज शिशुओंने इन अपनी माताओंको ही माध्यम बनाया व्रजरानीको अपनी ओर अभिमुख कर लेनेके उद्देश्यसे। अपनी माताओंका अञ्चल धारणकर, बड़े उल्लासमें भरकर वे सब कहने लगते हैं—'री मैया! क्या कहूँ? ऐसी बात है कि सुनते ही सबका मन अत्यन्त आश्चर्यसे भर उठेगा और हम सबोंके लिये भी थोड़ी हँसनेकी-सी बात हो गयी। हमारे कन्हू भैयाने काम तो बड़े ही साहसका किया। ओह! बलिहारी है इसके साहसकी! बस, पूछ मत, दूसरेके लिये तो वह अत्यन्त दुष्कर है—अरे दुष्कर क्या, दूसरा उसे कर ही नहीं सकता। पर है वह बहुत ही विनोदकी बात। इतना ही नहीं, हमलोग तो आज सब-के-सब मूर्ख सिद्ध हो गये, ठगे गये थे, भीषण विषकी प्रचण्ड अग्निमें भस्म हो गये थे; पर धन्य है कन्हैया भैयाकी चतुराईको! यह चतुरशिरोमणि जो ठहरा। इसने तुरंत हम सबोंको जीवित कर लिया।'

जननि! जननितान्तविस्मापकं स्मापकं चास्माकमतिसाहसपुष्करं दुष्करं दुरासदं रासदं कर्म कृतवान् अस्मानपि विषमविषमहानलदग्धा-नविदग्धानविसम्बेनैव जीवयामास च स चतुरशिरोमणिः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

यह सुनते ही माताएँ तो सन्न रह गयीं। केवल दो-एक अपने दुर-दुर करते हुए हृदयको दबाकर—'हैं! क्या हुआ? कैसे हुआ?'—कहकर चिल्ला उठीं। शिशु तो कहनेके लिये उतावले थे ही। उन सबने अतिशय उच्च स्वरसे सबको सुना-सुनाकर कहना आरम्भ

किया—'री! तुम सब ध्यानसे सुनो, आज यशोदा मैयाके लाड़िलेने, इस नन्दनन्दनने एक महाविशाल अजगरको मार डाला और हम सबोंके प्राण बचा लिये।'

अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना।
हतोऽवितावयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४८)

बीत्यौ एक बरष जिहिं काल, ब्रज में कहत भए ब्रजबाल।
आज एक नंद-जू के लाल, मार्यौ ब्याल महा बिकराल॥

फिर तो व्रजरानी भी भावसमाधिसे जागीं ही। उन्होंने भी आदिसे अन्ततक वनमें घटित आजकी इस घटनाका पूर्ण विवरण सुन ही लिया। अपने नीलमणिको वामहस्तसे अङ्कमें धारण किये एवं दक्षिण हस्तकी तर्जनी होठोंपर रखकर विस्फारित नेत्रोंसे वे पासमें खड़े श्रीव्रजेश्वरकी ओर देखने लग जाती हैं, किंतु व्रजेश्वरके नेत्र निमीलित हैं। वे मन-ही-मन अपने एवं अपनी प्रजा व्रजवासीजनोंके पुत्रोंकी अयाचित ऐसी रक्षाके लिये अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें न्योछावर हो रहे हैं! जो हो, परस्पर बड़ी देरतक यही चर्चा चलती रहती है, किंतु इसी बीचमें व्रजरानीको अपने नीलमणिके मुखपर वन-भ्रमणकी श्रान्ति दीख गयी और वे तनिक भी विलम्ब न कर अपने गृहकी ओर चल पड़ीं। नीलसुन्दर उनके अङ्कमेंसे उतरकर आगे-आगे चले और जननी स्नेह-विह्वल हुई पीछे चलीं। सामने रोहिणी मैयाके दर्शन हुए। श्रीरोहिणीने भी प्राणोंकी ललकसे श्रीकृष्णचन्द्रको अपने अङ्कमें भर लिया। पर दाऊ भैया कहाँ गये?—नीलसुन्दरने एक ही प्रश्नकी झड़ी लगा दी। रोहिणी माताके अन्य समस्त स्नेह-मनुहारकी ओर जैसे आज इस समय उनका ध्यान ही नहीं। बलराम-जननीने भी किञ्चित् हँसकर गृहालिन्दकी ओर संकेत कर दिया। मैयाके संकेतका तात्पर्य स्पष्ट था, श्रीकृष्णचन्द्र जान गये—दाऊ भैया रूठे बैठे हैं। आज वन न जानेका, रोक लिये जानेका इतना दुःख बलरामको हुआ कि उन्होंने भोजनतक नहीं किया—यहाँतक कि वंशीनाद सुनकर भी अपने अनुजका स्वागत करने भी वे नहीं आये। क्यों आयें? वास्तवमें उन्हें दोष तो अनुजका ही प्रतीत हुआ। 'कन्हू यदि मुझे भी साथ ले चलनेका हठ कर लेता अथवा मेरे शास्त्रोचित कृत्य जन्म-नक्षत्रोत्सवके अनन्तर किञ्चित् विलम्बसे बन जाता तो मैया बाध्य हो ही जाती मुझे भी साथ भेज देनेके लिये।' यह भावना रह-रहकर उनके नेत्रोंमें अश्रुसंचार कर देती और वे अलिन्दपर ही मुँह फुलाये बैठे रहते। पर अब धैर्य कहाँ, श्रीकृष्णचन्द्र 'दाऊ भैया' कहकर उन्हें पुकार जो रहे हैं। स्तम्भकी ओटसे एक परम सुन्दर समुज्ज्वल गौर तेजोमयी चञ्चल ज्योति-सी निकली और श्रीकृष्णचन्द्रके कण्ठसे जा लगी। अग्रज-अनुजको इस प्रकार मिलते देखकर दोनों माताओंके नेत्र पुनः छलक उठे।

अब पर्याप्त अतिकाल हो चुका है। इसलिये जननी पुत्रसंलालनमें लग जाती हैं। इतनी देर गोपसुन्दरियोंकी—नहीं-नहीं, वहाँ उपस्थित समस्त व्रजवासियोंकी दृष्टि तन्मय हो रही थी श्रीकृष्णचन्द्रमें; पर अब तो व्रजरानी अपनी इस अप्रतिम निधिको लेकर प्रासादके अन्तर्भागमें प्रविष्ट हो गयीं। अब चार पहरके लिये यह अवसर नहीं कि निकटसे नील-सुन्दरको निहारकर उनके नेत्र शीतल होते रहें। अतएव वे सब भी अपने आवासकी ओर चल पड़ते हैं; पर जा रहे हैं यन्त्रवत्, केवल शरीरसे ही। उनका मन तो वहीं नन्दभवनमें ही संनद्ध है, श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वह मन अन्यत्र जा जो नहीं सकता। एक वर्षके लिये श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने एक रचना रच दी थी। स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन ही उन सबके गृहोंमें उनके पुत्र होकर क्रीड़ा कर रहे थे। केवलमात्र नाम एवं आकृति उनके गर्भजात संतानकी थी, पर वास्तवमें वहाँ नन्दनन्दनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था, कोई नहीं था; उन असंख्य शिशुओंके स्थानपर केवल सर्वत्र भरे थे श्रीकृष्णचन्द्र ही। इसलिये बाह्यदृष्टिमें उनकी वृत्ति अपने पुत्रोंके प्रति ही सम्पूर्णतया आकर्षित हो जानेपर भी वह वस्तुतः केन्द्रित थी—तन्मय थी यशोदानन्दनमें ही। किंतु आज

उस एक वर्ष पूर्वकी ही धाराका संगम हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र पितामहके मनोरथ पूर्णकर अपने स्थानपर अवस्थित हो गये। शिशु ब्रह्ममोहनका अभिनय हो जानेके अनन्तर अपने स्थानपर आ गये। तब गोपसुन्दरियाँ भी अपने उस पूर्वके भावमें निमग्न होंगी ही, हो ही गयीं। सब कुछ वैसे-के-वैसे हो ही गया। जिस प्रकार आजसे एक वर्ष पूर्व वे संध्या-समय श्रीकृष्णचन्द्रको नन्द-भवनतक पहुँचाकर, उनका अनुगमन कर गृह लौटती थीं, ठीक वैसे ही, उसी भावनामें बहती हुई वे आज भी अपने गृहकी ओर लौटी जा रही हैं, लौट आयी हैं। स्वाभाविक वात्सल्यवश अपने-अपने पुत्रोंको अङ्कमें धारण करके आयी हैं तथा आकर उनका संलालन भी कर रही हैं, पर उनकी आँखोंमें भरा है नन्दप्राङ्गण और वे वहींसे स्पष्ट देखती जा रही हैं—'वह देखो, व्रजरानी नीलमणिको स्नान करा रही हैं, उनका गात्र-सम्मार्जन कर रही हैं, केश-संस्कार कर रही हैं आदि।'

व्रजवासियोंकी, विशेषतः इन वात्सल्यवती गोप-सुन्दरियोंकी यह भावना—अपनी गर्भजात संततिकी अपेक्षा भी अत्यधिक, अपरिसीम मात्रामें व्रजेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उनके स्नेहका यह प्रवाह आपाततः आश्चर्यका विषय अवश्य है; क्योंकि सौन्दर्य, माधुर्य एवं दैहिक सम्बन्धको लेकर ही तो प्राणोंका प्यार प्रसरित होता है। इसमें भी दैहिक सम्बन्धकी ही प्रधानता रहती है। अपनी संतान सुन्दर न हो, गुणहीन हो, एवं किसी अन्य व्यक्तिका शिशु रूप एवं गुणोंकी खान हो; फिर भी प्यारका उन्मेष जितना जैसा अपने शिशुपर होता है, उतना वैसा अन्यकी सलोनी संततिपर नहीं। किंतु इन वात्सल्यमयी व्रजसुन्दरियोंके प्यारकी प्रखर और निर्मल धारा तो अपने शिशुओंको एक ओर रखकर सदा बहती रहती है श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही, व्रजेश्वरके पुत्रपर ही। यह भी नहीं कि ये व्रजेन्द्रनन्दनको परब्रह्म पुरुषोत्तमके रूपमें अनुभव करती हों। उनके वात्सल्यमसृण हृदयमें इस तत्त्वज्ञानके लिये टिकनेतकको स्थान जो नहीं। वे तो निरन्तर अनुभव करती हैं श्रीकृष्णचन्द्रको व्रजरानीके नीलमणिके रूपमें ही। और कदाचित् सौन्दर्य ही उनके प्यारमें हेतु होता तो फिर इस एक वर्षके लिये स्नेहका वह प्रवाह, ठीक श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उमड़ते हुए कोटि प्राणोंका वह प्यार अपनी संततिके लिये ही लौट क्यों आता? अतएव स्पष्ट है कि व्रजरामाओंका स्नेह है निरन्तर श्रीकृष्णके उद्देश्यसे ही, वे भले ही किसी भी रूपमें उनके समक्ष क्यों न आयें। और इसीलिये यह विस्मयकी बात है ही कि आखिर व्रजपुरवासियोंका अपने शिशुओंकी अपेक्षा भी यशोदारानीके नीलसुन्दरके प्रति ऐसा अपरिसीम स्नेह किस हेतुसे है। सौन्दर्य-निर्बन्धन, भगवत्ताकी स्फूर्ति, दैहिक सम्बन्ध—ये हेतु नहीं, फिर उनका प्रेम सतत इस दिशामें ही, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही क्यों बहता रहता है? किंतु इसका समाधान भी अत्यन्त स्पष्ट है। जगत्में सर्वत्र सबके प्रेमकी धारा—भले ही अनजानमें हो—बहती रहती है एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रको ही पा लेनेके उद्देश्यसे। जगत्के समस्त प्राणी वास्तवमें प्रेम करते हैं अपनी आत्मासे ही। सबके लिये परम प्रिय वस्तु है अपनी आत्मा ही। पुत्र, वित्त आदिसे भी जो प्रेम है, वह सब है आत्मसुखके हेतुसे ही। इसीलिये अपनी अहंकारास्पद आत्माके प्रति जिस प्रकारका प्यार होता है, उस प्रकारका प्यार ममतास्पद वस्तु—पुत्र, धन, गृह आदिके प्रति कदापि नहीं होता। जिनके मन-बुद्धिपर अविवेकका आवरण है, उनके जीवनमें भी इस सत्यके प्रत्यक्ष दर्शन होते ही हैं। वे अपने इस नश्वर देहको ही आत्माके रूपमें अनुभव करते हैं तथा इसीलिये उनमें भी जो प्रेम अपने शरीरके प्रति होता है, वह दैहिक वस्तु—पुत्र-कलत्र आदिके प्रति नहीं ही होता। और कदाचित् विवेकके किञ्चिन्मात्र आलोकसे अन्तस्तलका तिमिर क्षीण होने लगे, सत्यकी स्फूर्तिका अवकाश आ जाय, सचमुच तनिक-सा यह भान होने लगे कि 'मैं यह शरीर नहीं, शरीर मेरी वस्तु है',—अविवेकके कारण मानी हुई अहंतास्पद वस्तु, ममताका विषय बन जाय, फिर उस समय देहसे भिन्न निश्चय

किये हुए अहन्तास्पद आत्माके समान यह शरीर प्यारा नहीं होता। आसन्न मृत्युके समय भी अविवेककी दशामें अपने-आपको देह माननेके कारण जो जीवनकी प्रबल आशा होती थी, वह विवेकके जाग उठनेपर नहीं होती; शरीर जीवित रहे या नष्ट हो जाय, इस सम्बन्धमें आग्रह नहीं रह जाता। इस प्रकार यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि अपनी आत्मा ही सबके लिये प्रियतम वस्तु है, आत्मसुखके लिये ही यह समस्त परिदृश्यमान चराचर जगत् प्रिय प्रतीत होता है। और ये श्रीकृष्णचन्द्र कौन हैं? ये नराकृति परब्रह्म ही तो समस्त आत्माओंके आत्मा हैं। जगत्का परम मङ्गल करनेके लिये ही ये योगमायाका आश्रय लेकर यहाँ पधारे हैं। इनमें देह-देहीका भेद नहीं, फिर भी लीलापुरुषोत्तम ये व्रजेन्द्रनन्दन जनसाधारणकी दृष्टिमें देहधारीके समान ही प्रतीत होते हैं। जब कभी किन्हींपर इनकी कृपाकी एक कणिका ढुलक पड़ती है और वे इनके तत्त्वका अनुसंधान पा लेते हैं, फिर उनके लिये इन श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं बचती। उनके लिये स्थावर-जंगम अखिल जगत् श्रीकृष्णस्वरूप है; इससे परे भी ब्रह्म, परमात्मा, नारायण—सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी ही अभिव्यक्ति हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त प्राकृत-अप्राकृत अन्य कोई वस्तु है जो नहीं। सभी वस्तुओंकी सत्ता अपने कारणमें ही तो है। कारण-सत्तासे ही कार्यकी सत्ता है। और ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उस कारणके भी परम कारण जो ठहरे। फिर कौन-सी वस्तु श्रीकृष्णसे भिन्न है?—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्॥
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५०—५७)

अब ऐसे स्वयं इन श्रीकृष्णचन्द्रको ही पा लेनेके अनन्तर व्रजपुरवासी क्यों नहीं अपने समस्त प्राणोंका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र इन्हींको समर्पित कर दें। नीलसुन्दरको एक बार प्यार कर लेनेके अनन्तर फिर अन्य किसी प्रीत्यास्पद वस्तुकी सत्ता ही कहाँ है कि जिसमें मन उलझे? इसीलिये व्रजसुन्दरियाँ भूल गयी हैं अपने शिशुओंको और तन्मय हो रही हैं नन्दप्राङ्गणमें विराजित श्रीकृष्णचन्द्रमें!

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्रकी आजकी दिनचर्या समाप्त हुई। वे शयन करने चले जाते हैं व्रजरानीके अङ्कमें, शारदीय प्रसाधनोंसे विभूषित व्रजेन्द्रगेहिनीके शयनमन्दिरमें। और जब किरणमाली अबसे चौदह घड़ीके पश्चात् पुनः अपने अंशुजालका विस्तार कर वृन्दाकाननको उद्भासित करने आयेंगे, तब उस समय श्रीकृष्णचन्द्रकी पौगण्डोचित लीलाकी एक सुन्दर योजना निर्मित होगी। कौमारलीला-रसका आस्वादन कर चुके बाल्यलीलाविहारी। एक-से-एक बढ़कर परम मनोहारिणी लीलाओंकी अवतारणा कर व्रजपुरवासियोंको इन्होंने परमानन्दसिन्धुमें निमग्न कर दिया है। उनकी वह निलायन-क्रीड़ा—ओह! कोई कैसे भूले अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उस अद्भुत प्रेमाधीनताको! श्रीकृष्णचन्द्र अपनेको छिपा लेते, पर शिशु उन्हें अनायास ढूँढ़ लेते। और जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें ढूँढ़ने चलते, तब देखने ही योग्य होती व्रजराजकुमारकी बाल्यभङ्गिमा, सर्वज्ञ सर्वेश्वरकी वह बाल्यरसमत्तता! क्या कहना है, अथक परिश्रम करके भी वे एक

शिशुको भी ढूँढ़ निकालनेमें असफल ही रहते। सर्वज्ञशिरोमणि प्रभुकी वह असमर्थता एवं शिशुओंका योगीन्द्र मुनीन्द्रगणोंके लिये निर्विकल्प समाधिमें भी प्राप्त न होनेवाले स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़कर बाहर लाते समयका वह उल्लास कितना आश्चर्यजनक है। और जिस समय नीलसुन्दर रविनन्दिनीसे संगमित किसी क्षुद्र स्रोतपर अथवा गिरिराजसे प्रसरित हुई किसी निर्झरकी एक छोटी धारापर सेतुकी रचना करते और उस सेतुपर श्रीराघवेन्द्रकी लङ्काविजय-लीलाका अभिनय करने लगते, उस समय जो भी उस क्रीड़ाका दर्शन करता, उसके नेत्र प्रेमावेशसे बहने लगते, शरीर अवश हो जाता। व्रजरानी, व्रजेश भी देखने जाते और देखकर स्तब्ध रह जाते। तथा फिर भावावेश शिथिल होनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके कपोलोंपर चुम्बन अङ्कित करते हुए पूछते—'नीलमणि! तू रघुकुलचन्द्रकी लीलाओंका इतना सुन्दर अनुकरण कैसे सीख गया? बता तो सही, मेरे लाल।' श्रीकृष्णचन्द्र उत्तरमें केवल हँस देते। इसके अतिरिक्त जिस समय वे वानरोंका अनुकरण करते हुए तरुशाखाओंपर कूदने लगते, उस समयकी झाँकी व्रजपुरके वृद्ध, वयस्क, शान्त, गम्भीर गोपोंतककी चञ्चल बना देती। जो जहाँ सुनता, वहींसे दौड़ पड़ता एक बार नन्दनन्दनको उछलमें भरकर वृक्षोंपर वानरोंकी भाँति कूदते हुए देख लेनेके उद्देश्यसे। इस प्रकार व्रजमें मधुरातिमधुर विविध परम रसमय संस्मरणकी निधि बिखेरते हुए व्रजराजकुमार लीलासिन्धुमें संतरण कर रहे थे और अब उनके बाल्यवयस्का अवसान हो चुका था।

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलयनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ६१)

चौर भाव बहु आनि, सेतुबंध, मरकट-क्रिया।
अपर खेल सुख मानि, खेलत गयौ कुमार वय॥
इमि बिहार करि कृष्न ब्रज, सब काहू सुख दीन।
यह कुमार वय की कथा, बरनी तोहि प्रबीन॥

श्रीकृष्णका प्रथम गोचारण-महोत्सव

उस समयकी बात है जब गोपेन्द्र नन्दका व्रजपुर बृहद्वनमें बसा था। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दाकानन नहीं पधारे थे। कलिन्दकन्याके उस पार ही लीला-रसका प्रवाह सीमित था। पुर-सुन्दरियोंके प्राङ्गणमें ही वे खेला करते थे। स्वभावमें चञ्चलता अवश्य आ चुकी थी।

अचानक एक दिन जब भुवनभास्कर वृक्षोंसे ऊपर उठ आये थे, वे खेलते हुए अपने गोष्ठमें जा पहुँचे। वहाँ अभी गोदोहन समाप्त नहीं हुआ था। पंक्तिबद्ध गायोंके थनोंसे क्षरित दुग्धका 'घर-घर' नाद उन्हें आकर्षित करने लगा। कौतूहलभरी दृष्टिसे देखते हुए वे दूर—बहुत दूरतक चले गये। एक वृद्ध गोप गाय दुह रहा था। साथ ही मन्द-मन्द स्वरमें उनके ही बालचरितके गीत उसके कण्ठ-निर्झरसे झर-से रहे थे। पर अब गाय सहसा चिहुँक उठी। नीलसुन्दरको देखकर हम्बारव करने लग गयी। वृद्ध गोपने भी पीछेकी ओर दृष्टि डाली। नन्दनन्दन उसे भी दीख गये। फिर तो गोदोहन हो सके, यह सम्भव ही कहाँ था। बस, निर्निमेष नयनोंसे वह नन्दनन्दनकी ओर देखता ही रह गया।

यह गोप व्रजराजका बालसखा है। ब्याह इसने किया नहीं। आजीवन नन्दरायके साथ ही इसके दिन बीते तथा व्रजेशने भी आदर्श प्रेम निभाया। मित्रके रूपमें तो क्या, सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताके समान ही वे इसे सम्मानका दान करते आये हैं। पर नन्दनन्दनके जन्म-दिनसे ही यह अर्द्धविक्षिप्त-सा रहने लगा था और व्रजेन्द्रको इसकी स्नेहोचित चिन्ता-सी लग गयी थी। गोसेवाके कार्य तो इसके द्वारा ज्यों-के-त्यों

सम्पन्न हो जाते थे। पर इसके अतिरिक्त उसे अपने शरीरका भान नहीं-सा ही है, ऐसा ही लगता था। अस्तु, नन्दनन्दन उसीके पास आकर बैठ गये। इतना ही नहीं, अपने हस्तकमलोंसे उसके स्कन्ध एवं चिबुकका स्पर्श कर बोले—'ताऊ! मुझे भी दुहना सिखा दो।'

वृद्धके कर्णपुटोंमें पीयूषकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके इस मधुभरे कण्ठस्वरका उन्मादी प्रभाव देखने ही योग्य था। दूधसे आधी भरी हुई दोहनी हाथोंसे छूटकर पृथ्वीपर जा गिरी तथा नन्दनन्दनको भुजपाशमें बाँधकर वह गोप बेसुध हो गया! और जब चेतना आयी— कहना कठिन है कि बाह्य दृष्टिमें दो ही क्षण बीतनेपर भी सचमुच वह कितने समयके पश्चात् जागा—उस समय भी उसकी प्रेमविवश आँखें झर रही थीं तथा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी छोटी-छोटी अँगुलियोंसे उसके नेत्र पोंछते हुए कह रहे थे—'क्यों ताऊ! मुझे नहीं सिखा दोगे?'

किंतु आज तो अबतक सभी गौएँ दुही जा चुकी थीं। गोपके ध्यानमें एक भी गाय दुहनेको अवशिष्ट नहीं। गोदोहनकी शिक्षा आज सम्भव नहीं। गद्गद कण्ठसे गोपने कहा—'मेरे लाल! कल सिखा दूँगा।' अब भला, श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका कहना ही क्या था! आनन्दविह्वल-से हुए वे बोल उठे—'ताऊ! बाबाकी सौंह है, कल अवश्य सिखला देना, भला! मेरे आनेतक कम-से-कम एक गाय बिना दुहे अवश्य रखना।' गोपने नीलसुन्दरके इस प्रेमिल आदेशका कोई उत्तर न दिया। उसकी वाणी अश्रुके आवेशमें रुद्ध थी। स्थिर पलकोंसे वह देख रहा था अपने प्राणधन नन्दनन्दनकी ओर ही। श्रीकृष्णचन्द्र पुनः बोले—'ताऊ! अब तो मैं सयाना हो गया! अपनी गायें अपने-आप दुह लूँगा!' गोप प्रस्तरमूर्तिकी भाँति निश्चल रहकर सुनता जा रहा था और श्रीकृष्णचन्द्र तनिक-सा रुककर फिर कहने लगे—'अच्छा, ताऊ! आज संध्याको सिखा दो तो कैसा रहे?' अब तो वृद्ध गोपके प्राण बरबस मचल-से उठे नीलसुन्दरके इस प्रस्तावका उत्तर दे देनेके लिये। किंतु ओह! उमड़े हुए स्नेहाश्रुको भेदकर वाणी कण्ठसे बाहर आ जो नहीं पाती थी। विचित्र-सी दशा हो गयी उसकी। इतनेमें व्रजराजनन्दनने चटपट स्वयं ही अपना समाधान कर लिया, वे बोल उठे—'नहीं ताऊ! सायंकाल तो मैया आने नहीं देगी, कल ही सिखा देना। कल तुम गोशाला गायें दुहने जब आओ, तब मुझे पुकार लेना।'—यह कहकर वे कुछ सोचने-से लग गये तथा फिर बोले—'नहीं, पुकारनेकी आवश्यकता नहीं, मैं अपने-आप ही आ जाऊँगा; पर तुम भूलना मत, ताऊ!'—इस बार अपनी सारी शक्ति बटोरकर गोपने उन्हें पुचकार मात्र दिया। पुचकारके द्वारा ही उसने सिखा देनेकी स्वीकृति दे दी और श्रीकृष्णचन्द्र अत्यन्त उल्लसित होकर लौट आये—

धेनु दुहत देखत हरि ग्वाल।
आपुनु बैठि गए तिन के ढिग, सिखवौ मोहि—कहत गोपाल॥
कालि तुम्हैं गौ दुहन सिखावैं, आज दुहौं सब गाय।
भोर दुहौ जिन, नंद दुहाई, उन सौं कहत सुनाय॥
बड़ी भयौ, अब दुहत रहौंगौ, अपनी धेनु निबेरि।
सूरदास प्रभु कहत सौंह दै, मोहि लीजियै टेरि॥

इसके दूसरे दिन, जितना शीघ्र सम्भव हो सका, वे उस गोपके समीप पहुँचे। आज उनके साथ बलराम भी थे। आते ही उन्होंने गोपकी दोहनी थाम ली और बड़ी उत्सुकतासे बोले—'चलो, ताऊ! गाय कहाँ है? सिखा दो।'—तथा अग्रज श्रीरोहिणीनन्दन भी अपने अनुजका अनुमोदन करने लगे—'हाँ, हाँ, ताऊ! इसे आज अवश्य सिखा दो।'

वृद्धका रोम-रोम एक अभिनव विशुद्ध स्नेहावेशसे पूरित हो उठा। नीलसुन्दरको अपने स्निग्ध हृदयसे लगा लिया उसने, मानो वात्सल्यमसृण हृदयकी प्रथम भेंट समर्पण कर दी। तदनन्तर उसने उनके हस्तकमलोंमें एक छोटी-सी दोहनी दे दी। नीलसुन्दर भी उसी गोपका अनुकरण करते हुए दुहनेकी मुद्रामें गायके थनके पास जा बैठे। गोपकी शिक्षा आरम्भ हुई।

श्रीकृष्णचन्द्रकी अँगुलियोंको अपनी अँगुलियोंमें धारणकर उसने थनको दबाना सिखाया। थनसे दुग्ध तो तभी क्षरित होने लगा था, जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र गायके समीप आकर बैठे मात्र थे। और अब तो दूधकी धारा बड़े वेगसे निकलने लगी थी। अवश्य ही वह दोहनीमें न गिरकर गिर रही थी कभी तो नीलसुन्दरके उदर-देशपर और कभी पृथ्वीपर। बड़ी तत्परतासे वे दोहनीको कभी पृथ्वीपर रख देते, कभी घुटनोंमें दबा लेते तथा इस चञ्चल प्रयासमें एक-दो धार दोहनीमें गिरती, एक-दो नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका अभिषेक करती तथा एक-दो धरतीपर बिखर जा रही थी। फिर भी कुछ दूध तो दोहनीमें एकत्र होकर ही रहा। श्रीकृष्णचन्द्रके हर्षका पार नहीं। दोहनी लेकर वे उठ खड़े हुए। नाच-नाचकर वे अपने दाऊ दादाको यह दिखा रहे थे—'देखो, मैं दुहना सीख गया।'

इसके पश्चात् क्रमशः दिवस-रजनीका अवसान होकर पुनः प्रभात हुआ। तीस घड़ीके अनन्तर जब श्रीकृष्णचन्द्रकी दैनंदिनी लीलाका आरम्भ होने चला, प्रातः समीरका स्पर्श पाकर जननीने उन्हें जगाया और वे जागे, तब वे जननीका अञ्चल धारण कर मचल उठे—

दै मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया।
माखन खाऐं बल भयौ, तोहि नंद दुहैया॥
सेंदुरि काजरि धूमरी धौरी मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ तुरतहिं तबै, मोहि कर दै मैया॥
ग्वालन की सँग दुहत हौं, बूझौ बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति बलैया॥

व्रजरानीने समझाया, शत-शत मनुहारके द्वारा अपने नीलमणिको आप्यायित करके इस गोदोहनके प्रस्तावको भुला देनेकी चेष्टा की, 'अरे, मेरा नीलमणि तो अभी निरा अबोध शिशु है, किसी गायने दुहते समय लात मार दी तो?'—इस भावनासे भयभीत हुई जननीने बहुत कुछ कहा, किंतु हठीले मोहन बात पकड़ लेनेपर छोड़ना जानते जो नहीं। बाध्य होकर जननीने अन्तिम निर्णय यह दिया—'मेरे प्राणधन नीलमणि! पहले अच्छी तरह बाबाके पास जाकर दुहना सीख ले, तब मैं दोहनी दूँगी और तब तू दूध दुह लाना!' ठीक है, बाबाकी शिक्षा भी सही! श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रके समीप चले आये, उनसे बारम्बार हठ करने लगे—

बाबा जू! मोहि दुहन सिखावौ।
गाय एक सूधी सी मिलवौ, हौंहुँ दुहौं, बलदाउ दुहाऔ॥

महाराज नन्दने किसी शुभ मुहूर्तमें सिखा देनेका वचन दिया। पर इतना धैर्य नन्दलाडिलेमें कहाँ! वे तो गोदोहन करेंगे, और इसी दिन, इसी समय करेंगे। आखिर उपनन्दके परामर्शसे यह निश्चित हुआ कि नारायणका स्मरण करके नीलमणिकी साध पूरी कर दी जाय। अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उमंगमें भरकर जननीके पास दोहनी लेने आये—

तनक कनक की दोहनी मोहि दै री, मैया।
तात दुहन सिखवन कह्यौ मोहि धौरी गैया॥

मुखचन्द्रपर स्वेदकण झलमल कर रहे थे एवं नेत्रसरोजोंमें भरी थी दोहनी लेकर गोष्ठमें पहुँच जानेकी त्वरा। जननीने अञ्चलसे मुख पोंछा, हृदयसे लगाया, फिर छोटी सुवर्णकी दोहनी हाथमें दे दी और स्वयं साथ चल पड़ीं। उनके पीछे यूथ-की-यूथ व्रजपुरसुन्दरियाँ एकत्र हो गयीं—नीलसुन्दरकी गोदोहनलीला देखनेके लिये। जो हो, अपने इष्टदेव नारायणका स्मरण करके व्रजेन्द्रने पुत्रका सिर सूँघा और फिर गोदोहनकी शिक्षा—शिक्षाका अभिनय सम्पन्न हुआ। गोपेन्द्रतनय गौ दुहने बैठे—

हरि बिसमासन बैठि कै मृदु कर थन लीनौ।
धार अटपटी देखि कै ब्रजपति हँसि दीनौ॥
गृह गृह ते आयीं देखन सब ब्रज की नारी।
सकुचत सब मन हरि लियौ हँसि घोषबिहारी॥

उस दिन व्रजेशके आदेशसे नन्दप्रासाद सजाया गया था। मङ्गलगान, मङ्गलवाद्यसे सम्पूर्ण व्रजपुर नादित होने लगा था। मणिदीपोंसे उद्भाषित हुई व्रजपुरकी वह रजनी दिन-सी बन गयी थी।

इस प्रकार चार-पाँच दिनोंके लिये बाल्यलीलाविहारी

श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ामन्दाकिनीका यह नवीन स्रोत प्रसरित होता रहा। पर सहसा मानो उनके अद्भुत शैशवकी चञ्चल लहरियोंने, नवनीत-हरणलीलाके प्रबल प्रवाहने इसे आत्मसात् कर लिया और वे इस गोदोहनके खेलको कुछ समयके लिये भूल-से गये, इस ओर उनका आकर्षण नहीं रहा। अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने उद्देश्यविशेषसे—आगे पौगण्ड आ जानेपर उनकी गोचारणलीलाकी भूमिका प्रस्तुत करनेके लिये—इसपर एक क्षणिक आवरण डाल दिया।

अस्तु, यह हुआ बृहद्वनमें विराजित रहते हुए व्रजराजकुमारकी उल्लासमयी गोदाहनक्रीड़ाका एक संक्षिप्त चित्र। और अब इस समय तो वे वृन्दावनविहारी हैं। उनकी आयुका प्रवाह भी आगेकी ओर बढ़कर कौमारकी सीमाको पार कर चुका है, वे पौगण्डवयसूमें अवस्थित हैं। तदनुरूप ही मेधा एवं बलका विकास हो चुका है। वक्षःस्थल पहलेकी अपेक्षा विस्तीर्ण हो चुका है। नेत्रसरोजोंमें एवं महामरकतश्याम शरीरके समस्त अवयवोंमें पौगण्डोचित चिह्न स्पष्ट परिलक्षित होने लगे हैं। स्वभावका सूक्ष्म परिवर्तन भी स्वयं व्रजमहाराज्ञी यशोदा मैयासे छिपा न रह सका। उस दिनकी बात है, श्रीअभिनन्दपत्नी आकर मैयासे बोलीं—

कृष्णमातरद्य सद्यः प्रातरेव कुत्र वा भवज्जातः प्रयातः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'कृष्णजननि! आज अत्यन्त प्रातःकाल ही आपके लाल कहाँ चले गये?'

इसका उत्तर मैयाने हँस-हँसकर यह दिया—

हन्त! तदेतद् वर्तमानसमयपर्यन्तं तस्योद्वर्तन-स्नानपरिधानमयानि कर्माणि मया निर्मीयन्ते स्म। सम्प्रति मदपि लज्जामासज्जन् स्वकसवयःसेवकप्रियः पृथगेव कृततत्तत्क्रियः स मा समया समायाति। आगत्य च प्रत्यहं मां पितरं यथायथमितरं च गुरुजनं पुरुगौरवं नमस्कारेण पुरस्करोति। किंच तदवधि यदा संध्यायां मया ध्यायमानागमनः सहवत्सः समागच्छति तदा तदुपरि वारि वारत्रयं भ्रामयित्वा पिबन्ती जीवन्ती भवामि स्म। सम्प्रति तु सशपथमेधमानयत्नवत्ता तत्प्रतिषेधता तेन मम हस्तौ विहस्तौ क्रियेते। एवमेव रौहिणेयश्चेति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अजी! क्या कहूँ, अबतक तो उसके उबटन, स्नान, वस्त्रपरिधान आदि कार्योंको मैं स्वयं अपने हाथों किया करती थी; पर इधर वह मुझसे भी लजाने लगा है। और इस कारण अपनी आयुके सेवकोंसे बहुत ही हिल-मिल गया है तथा अलग ही इन नित्यकर्मोंका समाधान कर लेनेके अनन्तर निश्चित समयपर मेरे पास आता है। आकर प्रतिदिन ही मुझे, अपने बाबाको तथा यथायोग्य अन्य गुरुजनोंको अतिशय गम्भीरतापूर्वक प्रणाम करके सम्मानित करता है। इतना ही नहीं, और सुनो; पहले तो यह बात थी—संध्या होने लगती, मैं उसके वनसे लौटनेकी प्रतीक्षामें रहती और जब गोवत्सोंके साथ वह आ जाता, तब उसपर तीन बार जल औंछकर पी लेती तथा मुझमें नवजीवनका संचार हो जाता। किंतु अब तो वह मुझे शपथ दे डालता है, उत्तरोत्तर अनेकों उपाय रचकर ऐसा करनेसे रोक देता है; उसके द्वारा मेरे दोनों हाथ इस क्रियाके लिये अक्षम कर दिये जाते हैं और मैं वह संजीवन जल पी नहीं पाती! तथा ठीक यही दशा रोहिणीनन्दन बलरामकी हो गयी है।'

जननीका यह उत्तर सुनकर अभिनन्दपत्नी तथा वहाँ उपस्थित अन्य पुरवनिताएँ हँसने लगीं। इधर व्रजेशकी दृष्टि भी श्रीकृष्णचन्द्रमें आयी हुई इन अस्फुट संकोचवृत्तियोंको भाँप लेती है। एक दिन राजसभामें मन्द-मन्द हँसते हुए वे भी सत्रन्द एवं नन्दनसे बोले—

भो! आयुष्मन्तावद्यजात इव युष्मद्भातृजातः स यथा सम्प्रति युवां प्रति वर्तते न तथा मामिति लक्ष्यते। यतः किंचित्संकुचितविलोचनेन मामवलोकयन्नालोच्यते। युवाभ्यां सह तु मधुरवार्त्तां वर्त्तयन्नेव दृश्यते।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे आयुष्मान् लघु भ्राताओ! तुम्हारे बड़े

भाईका यह पुत्र (श्रीकृष्णचन्द्र)—सच पूछो तो—ऐसा ही लगता है कि मानो आज ही उत्पन्न हुआ हो। पर देखो सही, आजकल तुम दोनोंके प्रति जैसी उसकी निर्बाध चेष्टाएँ होती हैं, वैसी अब मेरे प्रति नहीं—ऐसा प्रतीत हो रहा है; क्योंकि जब वह मेरे समक्ष आता है, तब उसके नेत्रोंमें कुछ संकोच भरा होता है, किञ्चित् संकुचित नेत्रोंसे ही वह मेरी ओर देखता है। पर तुम दोनोंके साथ तो वह अभी भी उसी प्रकार मधुर वार्ता—मीठी बातें करता रहता है—मैं ऐसा ही देखता हूँ।'

व्रजेन्द्रकी यह उक्ति गोपसदस्योंको हर्षोत्फुल्ल बना देती है। नीलसुन्दरके दोनों पितृव्य (चाचा) तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं। सब सुन लेनेके अनन्तर व्रजराजने पुनः प्रेममसृण स्वरमें कहना आरम्भ किया—'भैया सन्नन्द एवं नन्दन! अहो! परसोंकी ही तो बात है। तुम दोनों जा रहे थे एवं तुम्हारे पीछे थे राम-श्याम। जब मेरे उन दोनों पुत्रोंने यह देख लिया कि अब एकान्त है, तब तुमसे प्रार्थना-सी करने लगे। अहा! उनकी सुन्दर आँखोंमें दीनता भरी थी और वे दोनों बार-बार—प्रातःसे आरम्भकर न जाने कितनी बार—तुमसे कुछ निवेदन-सा कर रहे थे। मैं बहुत दूरसे चारों ओर घूम-घूमकर उन दोनोंको देख रहा था। वह क्या बात थी हो! बताओ तो सही—

भवन्तावेकान्तमनुभवन्तावनुगम्य तौ रम्यकानराक्षिप्रान्तावसकृत् प्रातरारभ्य प्रार्थितवन्तावित इदः प्रवेऽहनि समन्ताद्धातरावतिदूराददृक्षाताम्; तत्किमुच्यताम्?

(श्रीगोपालचम्पूः)

तथा लघुभ्राता श्रीनन्दनगोपने भी व्रजराजकी इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार किया—

तदानीमेवेति किं वक्तव्यम्। किंतु चिरादेव तयोस्तदभिरुचितमुपचितमस्ति। संकुचितभावाभ्यामावाभ्यां तु भवत्सु न श्रावितम्।

'यह केवल उस समयकी ही बात थोड़े है, यह तो उन दोनोंकी चिरकालीन लालसा है, जो निरन्तर बढ़कर दृढ़-दृढ़तर हो चुकी है। हम दोनोंको ही संकोच घेर लेता और इसीलिये आपको अबतक सूचित न कर सके।'

फिर तो महाराज नन्दने स्पष्टतया जान लेना चाहा तथा उपयुक्त अवसर देखकर श्रीसन्नन्दने भी मन्द-मन्द मुसकाकर बात खोल दी—

स्वयमेव गवां सेवनमिति यत्।

'और तो क्या, वे दोनों समस्त गायोंकी सेवा स्वयं ही करना चाहते हैं।'

परम गम्भीर उपनन्दजीके पूछनेपर सन्नन्दने इतना और कह दिया कि राम-श्याम कहते हैं—

आवयोः प्रथमवयोऽतीतयोस्तातचरणानां स्वयं गोचारणमनाचरतामाचरतीति।

'अब जब हम दोनोंकी प्रथम आयु—कौमारका अवसान हो चुका है, तब स्वयं पितृचरणोंके द्वारा गोचारणका कार्य सम्पादित होते रहना अनुचित है।'

अपने पुत्रोंकी यह भावना सुनकर व्रजेशका मुख विस्मयसे पूर्ण हो उठता है। वे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देते, मौन हो जाते हैं; किंतु उपस्थित गोपसमाज उल्लासमें भरकर कहने लग जाता है—

यद्यप्यद्यजाताविव सुजातावमू तथापि क्रमं विना बुद्धिनिष्क्रमस्य बलसंवलनस्य च सद्भावादस्माकं विस्मापकावेव भवतः। इतस्तु न विस्मायकौ भवतस्तपःप्रभाव एव खल्वेवं भावमावहतीति। न खलु तत्तत्खलानां यत्परिमलनं जातं तत्र सहायतानां सहायता काचिदपि परिचिता। तस्मान्मङ्गलमेव संगतं भविष्यतीति।

'व्रजराज! यद्यपि ये दोनों सुकुमार बालक सचमुच लगते तो ऐसे हैं कि मानो आज ही इनका जन्म हुआ है, फिर भी इनमें—क्रमशः नहीं, बिना किसी क्रमके ही—कुछ ऐसी विलक्षण बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, इतने बलका संचार हो गया है कि ये दोनों हम सभीको आश्चर्यमें भर दे रहे हैं। एक दृष्टिसे तो यह बात है। उधर पुनः विचारनेपर इनको लेकर

कोई आश्चर्य भी नहीं होता; क्योंकि निश्चितरूपसे यह तो आपके तपका ही प्रभाव है जो ऐसा सम्भव हो गया है। देखिये न, उन-उन दुष्ट राक्षसोंका जो संहार हुआ है, उसमें इन अगणित साथियोंकी कोई भी सहायता ली गयी हो, यह बात भी नहीं है। इसलिये आगे भी मङ्गलके ही दर्शन होंगे।'

यह कहकर गोप्मण्डलने नीलसुन्दरके प्रस्तावका प्रकारान्तरसे अनुमोदन कर दिया। अवश्य ही गोपराज तो मौन ही रहे। इसके दो-तीन दिन पश्चात् महाराजने एकान्तमें व्रजरानीसे भी इस प्रस्तावपर मन्त्रणा की; पर व्रजदम्पतिका वात्सल्य-रस-यन्त्रित हृदय इसे सहजमें ही स्वीकार कर ले, यह कहाँ सम्भव है। दोनोंने मिलकर यही स्थिर किया कि अवसर विशेषकी प्रतीक्षा की जाय—

निजगृहिण्यापि सह रहसि श्रीव्रजराजस्य स एष प्रस्तावविशेष आसीत्। यत्र च तौ पुत्रप्रेमयन्त्रिततया तदेतन्मन्त्रितवन्तौ। पश्यामः समयविशेषमिति।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको अब इसमें अधिक विलम्ब अपेक्षित नहीं है। अतएव उन्होंने तो उपक्रम कर ही दिया—सर्वथा स्वाभाविक ढंगसे ही। जिस असंख्य गोवत्सराशिका संचारण आरम्भ हुआ था, नन्दलाल वत्सपाल बनकर गोपशिशुओंके साथ वनमें जिसे ले जाया करते थे, वह वत्सश्रेणी अबतक अधिकांशमें नवप्रसूता गौएँ जो बन चुकी हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा, दोहन आदि कार्य तो राम-श्यामके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। भला, जिसने अपने शैशवमें नीलसुन्दरके करपल्लवोंसे चयन किये हुए हरित सुकोमल तृणराजिका ग्रास पाया है, जिसके अङ्ग सदा सम्मार्जित होते आये हैं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलोंसे ही, जिसका अबतक सतत संवर्द्धन हुआ है व्रजेशतनयके रसमय संरक्षणमें ही, मूकवाणी व्यक्त न कर सके, इससे क्या—पर जिसके अन्तस्तलमें व्रजराजकुमारके द्वारा पाये हुए प्यारकी असंख्य स्मृतियाँ सुरक्षित हैं—वह वत्सराशि आज अपने प्रथम यौवनके उन्मेषमें स्वयं भी वत्स प्रसव करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त किसी अन्य गोपकी सेवा स्वीकार कर ले, यह भी कभी सम्भव है? उन-उन नवप्रसूता गायोंने किसी गोपसेवकको अपने शरीरका स्पर्शतक करने नहीं दिया है। अपने पार्श्वमें किसी भी गोपको देखते ही वे बिदुक जातीं। तथा जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र आये कि 'हम्बारव' गोष्ठको निनादित करने लगतीं, उनके थनसे दूध बरसने लगता; दोहनी नीचे रख भर देनेकी बात थी, क्षणोंमें वह कण्ठतक पूरित हो जाती और फिर एक सुन्दर धवल प्रवाह नीचेकी ओर बह चलता। सुरभि-थनमें इतना दुग्ध कहाँसे संचित हो जाता—इसे कौन बताये। और वह अभी-अभी व्रजपुरमें भूमिष्ठ हुआ वत्स भी तो भूल जाता अपनी जननीको। वह तो सरल भोली चितवनसे केवल नीलसुन्दरकी ओर देखता रहता। अपने करपल्लवमें वत्सका मुख लेकर नन्दलाल उसे थनसे सटा देते, फिर भी वह दृष्टि फेर लेता; नन्दलाड़िलेके श्यामल अङ्गोंमें ही उसकी आँखें उलझी रहतीं। यदि अघटन-घटनापटीयसी योगमायाके अञ्चलकी छाया यथासमय उनकी स्मृतिको आवृत न कर लेती तो कोई वत्सतर अपनी जननीका स्तनरस पान कर सके, यह नवीन धेनुसमूह श्रीकृष्णचन्द्रका सङ्ग त्याग सके—यह सर्वथा असम्भव है। जो हो, इस प्रकार इनकी सेवा तो एकमात्र राम-श्यामके द्वारा ही होने लगी है। इन्हें तृणदान आदिका भार रोहिणीनन्दन रामपर है और दोहनकी क्रिया सम्पन्न होती है नीलसुन्दरके द्वारा। कौमारका वह गोदोहन-खेल—लीलासुरधुनीका वह सुन्दर स्रोत इतने कालतक मूकके विभिन्न प्रवाहोंमें ही विलीन रहकर अब पुनः पृथक् होकर प्रसरित होने लगा है—व्रजेशका ध्यान आकर्षित करनेके लिये, उन्हें सूचित कर देनेके लिये कि 'व्रजेश्वर! अब विलम्ब मत करो, नीलसुन्दरकी योग्यताका इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहते हो? अपने संरक्षणमें अवस्थित इस अपार नवीन गोधनका तनिक-सा भी बिदुके बिना ही दोहनकर्म समाधान कर लेनेकी कलामें निज तनय नीलमणिकी निपुणता

देख लो। अब क्यों नहीं इन्हें अपने राजकुलके अधिकृत समस्त गोधनके ही संरक्षणका भार सौंप देते? लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती!' पर व्रजराजके श्रीकृष्णरसभावित प्राणोंमें तो झंकृति है—'**पश्यामः समयविशेषम्**'—अवसरविशेषकी बाट देखें। वे गोपोंसे सुनते हैं, स्वयं देखते भी हैं, अनुभव करते हैं—'सचमुच मेरे पुत्रकी योग्यता—गोसंरक्षणकी कुशलता गोपवंशकी परम्परामें अद्वितीय ही है।' फिर भी उनका वात्सल्यपरिभावित हृदय विलम्ब करनेमें ही रस ले रहा है और इसलिये वे इस प्रश्नपर मौन ही रह जाते हैं।

आखिर सीमा आ गयी, *लीलाशक्तिका* निर्धारित क्रम सामने जो आ गया। अबतक श्रीकृष्णचन्द्र वन जाते थे उन अपने अधिकृत नवीन गोधनको लेकर ही। उनमें कुछ गोवत्स थे, कुछ प्रथम-प्रसवोन्मुख गौएँ थीं और अधिकांश थीं नवीन-वत्सवती। गोवत्स इसलिये कि समय-समयपर मुक्तस्तन्य वत्स श्रीकृष्णचन्द्रके संरक्षणमें सम्मिलित होते आये हैं। और वत्सवती तो श्रीकृष्णचन्द्रका संरक्षण परित्याग करनेसे रहीं। गोपरक्षकोंने अथक चेष्टा की कि भले ही गोष्ठमें इनकी सेवा राम-श्याम कर लें, गोदोहन आदि भी वे ही करें; पर इनका संचारणकार्य तो हम सबोंके ही द्वारा हो, ये सब भी वयस्क गोधनकी टोलीमें ही परिगणित हो जायँ। किंतु वे सर्वथा असफल रहे। ये गायें किसी भी परिस्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रके बिना वन जानेको प्रस्तुत न हुईं। अतएव सदासे आया हुआ दो विभाग अबतक चलता ही रहा। गोपरक्षक अपने अधिकृत व्रजेशके अपार गोधनका संचारण करते एवं श्रीकृष्णचन्द्र उसीके अंशभूत अपने अधिकृत गो-गोवत्समिश्रित समूहका। अस्तु, आज सहसा प्रातःकाल एक विशेष घटना घटी। उपक्रम तो कल ही हुआ था, आज सबोंने प्रत्यक्ष देख लिया। वनसे लौटते हुए गोचारकवर्गके दोनों ही दल कल मिल गये। अन्यथा इससे पूर्व रक्षकोंका वर्ग तो श्रीकृष्णचन्द्रसे पूर्व ही प्रस्थान कर जाता एवं श्रीकृष्णचन्द्र लौटते थे उस वर्गके गोष्ठमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर। विगत संध्याके समय गोपरक्षकोंने गायोंकी उस अभूतपूर्व प्रेमसम्पुटित आर्ति—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अद्भुत आकर्षणको देखा अवश्य, पर देखकर भी वे रहस्यभेद न कर सके। किंतु आज प्रातःकाल वह स्पष्ट हो गया—इस अपार समस्त गोधनराशिने वन जाना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। वे वनकी ओर तभी चलीं जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें आगे खड़े होकर पुकारने लगे। व्रजेशकी राजसभामें आज चर्चाका विषय, बस, एकमात्र यही था। गोपवर्गने विस्मयसे पूर्ण होकर यह सूचना व्रजेन्द्रको दे दी—

सर्वं गोजातं न तु भवज्जातमन्तरा पदमपि पदः प्रददाति। कथंचित्तेनैवाग्रावस्थितेनाद्य ताः प्रस्थापिताः सन्ति॥

'व्रजराज! देख लें, समस्त गायोंकी ही यह दशा हो गयी है कि आपके पुत्रके बिना वे अब एक पद भी वनकी ओर अग्रसर नहीं होतीं। आज जब वह स्वयं उनके आगे जाकर खड़ा हो गया, तब कहीं—उसकी सहायतासे ही वे किसी प्रकार वनमें भेजी जा सकी हैं।'

गोपेश सुनकर आश्चर्यमें भर गये। उन्होंने इस आकस्मिक परिवर्तनका कारण जानना चाहा। फिर तो समस्त सभासद् एक स्वरसे पुकार उठे—

भवत्पुत्रः कुत्रचिद्यत्र स्नेहं व्यञ्जयति तत्र सर्वत्र चैवं दृश्यते।

'यह तो जानी हुई बात है, व्रजेश्वर! जहाँ कहीं जिसके प्रति भी आपका पुत्र प्रेम प्रदर्शित करता है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र यही परिणाम सामने आता है।'

उस दिन अनेक युक्तियोंसे गोपमण्डलने व्रजेशको समझा-बुझाकर नीलसुन्दरपर ही समस्त गोसंरक्षणका भार सौंप देनेके लिये उन्हें बाध्य कर दिया। सबकी एक ही राय, एक ही माँग थी—

तस्माद्भवताद्भवतामनुज्ञा।

'अतएव, अब आपकी आज्ञा हो जाय।'

तथा व्रजराजने भी—वाणीसे तो नहीं—अपनी हर्षभरी दृष्टिसे ही प्रस्तावका समर्थन कर दिया। उपनन्दजी तुरंत ही ज्योतिर्विदोंका परामर्श ले आये। उन सबोंने भी संनिकट योगका ही आदेश किया—'पण्डितजनोंके कर्णपुटोंके लिये सुखप्रद, मङ्गलयशपूर्ण, बुधवार श्रवण-नक्षत्र-विशिष्ट कार्तिक शुक्लपक्षकी अष्टमी गोपालनके लिये परम सुन्दर मुहूर्त है।'—

तैरपि बुधश्रवणसुखप्रदमङ्गलश्रवणसंगत-बुधश्रवणविशिष्टायामबहुलबाहुलाष्टम्यां बहुलापालनं बहुलमेतदिष्टमित्यादिष्टम्।

अस्तु, अंशुमाली जब उस दिन प्राचीको रञ्जित करने आये, क्षितिजकी ओटसे व्रजपुरके आकाशको झाँककर देखने लगे, उस अष्टमीके दिन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रथम-गोचारण महोत्सवके उपलक्ष्यमें वहाँ क्या-क्या हुआ, इसे कौन बताये। वाग्वादिनी स्वयं विथकित जो हो रही हैं। लीलादर्शीकी रसनाके अन्तरालमें हंस-वाहिनीके प्राणोंकी इतनी-सी झंकृति कोई भले ही सुन ले—'अरे! इस महा-महोत्सवका वर्णन करना चाहते हो? नहीं, नहीं कर सकोगे। सुनो, एक नहीं, इसके लिये अनेकों वक्ता चाहिये। उनमें प्रत्येक वक्ताके ही अयुत—दस सहस्र मुख हों, सभीकी आयु सर्वदा बनी रहे, कभी क्षय न हो, वे निरन्तर गाते ही रहें—तब वर्णन करनेका विचार करना, भला!'

एकस्यैकस्य चेद् वक्तुर्वक्त्राणि स्युः सदायुतम्।
तदा तद् वक्तुमिच्छन्तु यद्यायुः सर्वदायुतम्॥

इससे पूर्व नीलसुन्दरके कौमारवयस्में—शिशिर-वसन्तकी संधिपर—होनेवाले वत्सचारण-महोत्सवकी शोभा भी निराली ही थी, प्रायः उसके कार्यक्रमका ही अनुसरण आज इस गोचारण-प्रसङ्गमें भी हुआ है। अट्टालिका, गृहतोरण, गृह-द्वार, अलिन्द, वीथी, चतुष्पथ—इन सबका साज-शृङ्गार एवं देवपूजन आदि शास्त्रीय कर्म भी उस पूर्वकी अनुक्रमणीके साँचेमें ही ढले हैं; पर आजका रागरंग, पारावारविहीन आनन्दसिन्धुका यह अभूतपूर्व उद्वेलन—ओह! किसीके श्रीकृष्णचरणनखचन्द्रसे आलोकित दृगोंमें भले ही यह क्षणभरके लिये झलमल कर उठे, पर वाणी तो इसे व्यक्त करनेसे रही! केवल दिग्दर्शनमात्र सम्भव है—'देखो, श्रीकृष्णचन्द्र 'गोपाल' बननेके योग्य नवीन वेषभूषासे सुसज्जित हैं, उनका रक्षा-विधान सम्पन्न हुआ है, ब्राह्मण एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे उनके श्रीअङ्ग सिक्त हो चुके हैं; पुण्याहवाचन कर्म भी साङ्गोपाङ्ग समापित हो चुका है। व्रजरानी, श्रीरोहिणी एवं असंख्य व्रजरामाओंके द्वारा इनका वनगमनोचित नीराजनका मङ्गलकृत्य भी पूरा हो गया। अरे! सुन लो—असंख्य पुरसुन्दरियोंके कण्ठसे निर्गत मङ्गलगानकी सुमधुर ध्वनि; दुन्दुभि, ढक्का, पटह, मृदङ्ग, मुरज, आनक, वंशी, संनहनी, कांस्य आदि वाद्यसमूहोंका दिग्दिगन्तव्यापी नाद; आनन्दमत्त गोपोंके, गोपबालाओंके नर्तनका झंकार—'नन्दकुलचन्द्रकी जय! रोहिणीनन्दन बलरामकी जय!! राम! राम! श्याम! श्याम! चिरंजीव! चिरंजीव!' आदिका तुमुल घोष। और अब देखो, अहा! वे चले अपने अग्रज बलरामसे संवलित श्रीमान् गोपमहेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्र गायोंके पीछे-पीछे। ओह! कैसी अनिर्वचनीय शोभा है!

गोपालोचितनव्यवेषबलनै रक्षाविधानैर्द्विजा-
शीर्भिः सुदिनादलभ्यरचनैर्लब्ध्वार्हणीराजनैः।
संगानान्वितवाद्यनृत्यनिकरैः शङ्खजयाद्यारवैः
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्ग्रामेण धेनूरनु॥

'ओह! बलिहारी है श्रीकृष्णचन्द्रके इस अप्रतिम सौन्दर्यकी।

सखा साथ, बल भैया साथ।
राजत रुचिर अंगली माथ॥
बीच अछत सु कवन छबि गनौं।
मोती जमे चंद मधि मनौं॥

'अरे! धेनुसमूहका शृङ्गार, चमक-दमक देखो—

गाइन की छबि नहिं कहि परै।
रूप अनूप सब के हिय हरै॥
कंचन भूषन सब के गरै।
घनन घनन घंटागन करै॥

डजल बरन सु को है हंस।
कामधेनु सब जिन की अंस॥
दरपन सम तन अति दुति देत।
जिन मधि हरि झाँई झुकि लेत॥

'ओह! केवल दो अक्षिकोणोंमें, अत्यन्त लघु युग्म कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ दिग्दर्शनमात्र विवरणको भी सम्पूर्णतया कैसे धारण कर सकोगे? इसलिये ऊपर दृष्टि डालो, अन्तरिक्षचारी अमरवृन्दके नेत्र-गोलकोंमें समाकर देखो, वे इस समय क्या देख रहे हैं। अहा, उनके दृगञ्चलमें अभी भी वह चित्र वर्तमान है— श्रीकृष्णचन्द्र उस अपार गोधनके समीप गये हैं। उन्होंने पाद्य आदि अर्पण करके प्रत्येककी ही अर्चना की है। तृण, चवस एवं मोदक आदिके मधुर ग्राससे सबको परितृप्त किया है। उनका स्तवन किया है, अपने कुञ्चित कुन्तलराशिमण्डित मस्तकसे उनके खुरोंका स्पर्श करके अभिवन्दना की है। उनका मानवर्द्धन किया है। अनन्तर ब्राह्मणों एवं पुरोहितकुलको अपरिमित दान-दक्षिणा समर्पण करके उन्हें अक्षय आनन्दमें निमग्न कर दिया है। पितृचरण एवं गुरुजनवर्गको अपने मञ्जु-अञ्जलिपुटोंके संकेतसे उन्होंने पुरोभागमें विराजित किया है और स्वयं उनकी ओर मुखारविन्द किये अपने अग्रज बलरामके सहित अवस्थित हो रहे हैं। व्रजराजने एक मणिमय लकुटी उनके हस्तकमलमें दे दी है—

'धेनूः संनिधाय ताश्च पाद्यादिभिरर्चिता विधाय मधुरग्रासैस्तासां समग्राणां तृप्तिमाधाय तासु नतिप्रभृतिभिर्मानमुपधाय पुनश्च प्रदानदक्षिणाभिः पुरोहितादीनक्षीणानन्दान् संधाय श्रीमत्पितृचरणादीन् मञ्जुलाञ्जलिवलितमग्रतो निधाय स्थितवति साग्रजे तस्मिन्नवरजे श्रीमांस्तत्पिता व्रजराजस्तावन्मणिमयलकुटी तत्करे घटयामास।'

'अहो! जननी यशोदाका प्रेमावेश तो देखो! वे पुकार रही हैं—बलराम! बेटा! तू नीलमणिके आगे हो जा। अरे सुबल! तू मेरे लालके पीछे हो जा। अरे ओ श्रीदाम! ओ सुदाम! पुत्रो! तुम दोनों इसके दोनों पार्श्वमें अवस्थित हो जाओ। अरे शिशुओ! सुनते हो, देखो, तुम अपने इस आत्मीय सुहृद् नीलसुन्दरको सब ओरसे आवृत करके चलो! इस भाँति स्नेहविह्वल मैया प्रत्येक शिशुका हाथ पकड़कर आदेश दे रही हैं, साथ ही प्रत्येकको यथायोग्य श्रीकृष्ण-सेवासम्बन्धी उन-उन कार्योंका निर्देश करके सौभाग्य दान कर रही हैं और यह सब करते समय भी उनकी आँखें निरन्तर झर-झर बरसती रहती हैं।

राम! प्रागस्य पश्चाद्भव सुबल! युवां श्रीलदामन्! सुदामन्! दोःपार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीयबन्धोः। इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्रनीरैरसिक्ता॥

बस, इससे अधिक वाणीकी सामर्थ्य नहीं जो और कह सके।

इस प्रकार पौगण्डवयस्क बलराम एवं नीलसुन्दर वृद्ध गोपोंका अनुमोदन पाकर आज वत्सपालसे गोपाल बन गये हैं। और अब वे असंख्य सखाओंके साथ गोचारण करते हुए जा रहे हैं वृन्दाकाननकी ओर। काननके उस भूभाग— वनस्थलीके प्रत्येक अंशपर ही अबसे—किसी अन्य पशुपालका नहीं— एकच्छत्र इन अनोखे गोपालका ही साम्राज्य है। और इसीलिये आज वनभूमि उनके ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्न-समन्वित पदाङ्कोंसे पूर्वकी अपेक्षा भी अत्यधिक समलङ्कृत हो रही है—

**ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥**

(श्रीमद्भा० १०। १५। १)

जब पौगण्ड अवस्था आई।
पसु पालन संमत दोउ भाई॥
निज गोधन लै भ्रात समेता।
सखन संग नृप कृपा-निकेता॥
बन-बन धेनु चराइ प्रबीने।
बृंदाबन भू पावन कीने॥
निज पद अंकित करि जदुनंदा।
महापुन्यतम छिति सुखकंदा॥

श्रीकृष्णके द्वारा बलरामजीके प्रति वृन्दावनकी शोभाका वर्णन

व्रजेन्द्रनन्दनके बिम्बारुण अधरोंपर विराजित वेणुकी महामोहन स्वरलहरीसे, गोपशिशुओंके कण्ठसे निस्सृत श्रीकृष्ण-सुयशकी सुमधुर तानसे सम्पूर्ण वन-प्रान्तर मुखरित होने लगता है। वह असंख्य गोराशि भी प्रेमविह्वल हुई क्रमशः आगे बढ़ने लगती है। तथा उनके पीछे सखाओंसे परिवेष्टित हुए बलरामके सहित नीलसुन्दर झूमते हुए चले जा रहे हैं वन-विहारके उद्देश्यसे। रंग-बिरंगे राशि-राशि कुसुम-समूहोंसे समलङ्कृत होकर, साथ ही गोसंचारणके सर्वथा उपयुक्त बनकर वृन्दाकानन भी उनके स्वागतके लिये प्रस्तुत है। द्रुमवल्लरियोंके अगणित तोरण निर्माणकर एकमात्र उनकी ही प्रतीक्षा कर रहा है वह, और यह लो, वृन्दावनेश्वर भी उसका अभिनन्दन स्वीकार करने आ ही तो पहुँचे।

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो
गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्
विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २)

बलजुत बेनु बजाय सुहावन।
निज गौ गनत गोप सब पावन॥
आगें करि गोधन सब ही के।
बन प्रबेस किय भावत जी कें॥
कुसुमाकर बन सुषमा धामू।
तहाँ गए प्रभु बिहरन कामू॥

वनके राजा पधारे हैं। काननने अपने कोशकी अपरिसीम सम्पदा चरणसरोजोंमें समर्पित कर दी, अपने अधिकृत समस्त चर-अचरको साथ लिये वह स्वयं ही न्योछावर हो गया। रसमत्त भ्रमरोंकी मधुर गुञ्जार, मृग एवं विहंगमोंका अव्यक्त सुमधुर रव, भगवद्भक्तके निराविल मानसतलके समान स्वच्छ शीतल सुमिष्ट जलसे पूर्ण सरोवरोंका सांनिध्य, उनपर 'झुर-झुर' करते हुए प्रवाहित, शीतल पद्मगन्ध-वासित मन्द समीरका आकर्षण—काननने एक साथ समस्त उपकरण सामने रख दिये। श्रीकृष्णचन्द्रने भी उस ओर मनोनिवेश किया। उस मञ्जुघोषसे उनके कर्णपुट पूरित हो उठे। सुखद अनिलने उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श पा लिया। सरोवरके स्वच्छ सलिलकी मधुरिमा उनकी रसनासे जा मिली। विकसित पद्मोंकी शोभा नेत्रकोणोंमें समा गयी। नानाविध कुसुमोंका सुवास उनकी घ्राणेन्द्रियमें सञ्चित हो उठा। सचमुच उनके कर्ण, त्वक्, रसना, दृगञ्चल एवं नासापुटोंका आनन्द-संवर्धन करनेके लिये ही तो अरण्यने यह समस्त सामग्री एकत्र की है और इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र—वनके देवताने भी इस प्रेम-भरित भेंटको स्वीकार कर लिया, वनकी सेवा स्वीकृत हो गयी। वृन्दावनेश्वर सोचने लगे—'बस, आज यहीं विहार हो।'—

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं
महन्मनःप्रख्यपयस्सरस्वता।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ३)

मंजु घोष अलि द्विज बहु जाती।
मृग, बराहगन नाना भाँती॥
सर सुंदर जल अति गंभीरा।
त्रिबिध पवन, सौरभ पुनि नीरा॥
स्वच्छ स्वादु जनु सुधा समाना।
बिसद संतमन सरिस बखाना॥
देखि बिपिन सुंदर सर सोभा।
रमन हेतु प्रभु कौ मन लोभा॥

× × ×

बृंदाबन छबि कहत बनैं न।
भूलि रहैं जहँ हरि के नैन॥
जामें संतत बसत बसंत।
प्रफुलित नाना कुसुम अनंत॥
कंटक द्रुम एकौ नहिं जहाँ।
चिदाभास भासत सब तहाँ॥
चलत जु नहिं लीलारस-रले।
मति हरि आवैं इत ही चले॥

रटत बिहंगम रंगन भरे।
बात कहत जनु द्रुम रस ढरे॥
कोकिल कूजति इमि छबि पावति।
जनु मधु-बधू सुमंगल गावति॥
कुसुम धूरि धूँधरी सुकुंज।
गुंजत मंजु घोष अलि-पुंज॥
सुंदर सर निर्मल जल ऐसें।
संत जनन के मानस जैसें॥
तिन मधि अमल कमल अस लसे।
जनु आनंद भरे सर हँसे॥
जल पर परी पराग जु सोहै।
अबिर भरे नव दर्पन को है॥
जहँ लगि बृंदाबन की भूमि।
औरहि बिधि रहि जमुना झूमि॥
परमाधार, सु रस जो आहि।
बहति रहति निसि-बासर ताहि॥
जित देखिय, तित सुख की रैनी।
कनक करारे रतनन सैनी॥
मंजुल बृंदाबन की गुंजा।
कृष्न-नाम मुख सुख कौ पुंजा॥
तिनहि बिलोकि लटू ह्वै गए।
तुरतहिं तोरि हार गुहि लए॥

वृन्दावनेश्वरने उत्फुल्ल होकर वहाँकी सघन सुन्दर तरुराजिकी ओर दृष्टि डाली। सर्वत्र ही शोभाका अंबार लगा है। अरुणवर्ण कोमल पल्लवजालसे मण्डित हो रहे हैं ये गगनस्पर्शी वृक्षसमूह। अगणित फल-समूहों एवं पुष्पगुच्छोंके गुरुभारसे ये अवनत हो रहे हैं। मानो फल-प्रसूनोंका यह अतिशय भार उनके लिये असह्य हो गया है और वे सर्वंसहा वसुधाको इसे समर्पित करने जा रहे हों, नहीं-नहीं, सर्वथा भिन्न है इनकी भावना। ओह! ये तो वृन्दावनदेव श्रीकृष्णचन्द्रकी अर्चना कर रहे हैं। अपने भवनमें पधारे हुए आराध्यका दर्शन पाकर ये वनवासी वृक्षगण मस्तकपर सँजोये हुए पूजोपहार—फल-पुष्पोंको उतार-उतारकर उनके चरणसरोजोंमें निवेदन कर रहे हैं। नमित होकर, अपनी शाखावलीसे श्रीकृष्णपादपद्मोंकी संनिकट धराका स्पर्श करके ये मूक संकेत कर रहे हैं—'आओ, हमारे देवता! इस पथसे आओ, हमारा उपहार स्वीकार करो।' इस प्रकार वृन्दावनेश्वरका आवाहन कर रहे हैं ये। जो हो, वृक्षावलीकी यह मनोहर शोभा श्रीकृष्णचन्द्रमें एक अनिर्वचनीय हर्षका सञ्चार कर देती है तथा अपने अरुणिम अधरोंपर मृदु-मधुर हास्य-सा भरकर वे अग्रज बलरामके प्रति अपना मनोभाव प्रकट करने लग जाते हैं—

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा
स्मयन्विवाहाग्रजमादिपूरुषः॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ४)

सुंदर तरु-पल्लव अरुन, फल प्रसून डर भार।
पद परसत निज सिखनि तैं, देखेउ नंदकुमार॥
बोले श्री जदुनाथ, मंद मंद हँसि भ्रात सौं।
सुनिय तात यह गाथ-द्रुम सोभा निरखहु सजन!॥
× × ×
सुंदर तरु सुरतरु तहँ को है।
जे मनमोहन के मन मोहै॥
अरुन-अरुन नव पल्लव पात।
जनु हरि के अनुराग चुचात॥
निरखे द्रुम जु फूल-फल नए।
मधुकर निकर महा छबि छए॥
नए जु फल-फूलन कें भार।
लगि-लगि रहीं धरनि द्रुम-डार॥
बार-बार हरि तिन तन चहैं।
बल भैया सौं बातैं कहैं॥

उनके स्वरमें विनोदका पुट अवश्य है, पर वाणी प्रकाशित कर रही है परम सत्य तथ्यको ही। एक ओर इसमें तत्त्वका अनुसंधान करनेवालोंके लिये प्रचुर सामग्री भरी है, और उधर अपने उन गोपसहचरोंके लिये, प्रपञ्चमें उन्हींकी बाट देखनेवाले भक्तजनोंके लिये रसका स्रोत संनिहित है। यह आदिपुरुष व्रजेन्द्रनन्दनकी वाणी जो ठहरी! जिसकी जैसी रुचि, वैसी ही सामग्री वह ले ले इससे। किंतु लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र तो अपने स्वाभाविक बाल्यावेशके प्रवाहमें ही कहते जा रहे हैं।

उन्हें कौतुकविशेषकी अवतारणा करनी जो है। इसीलिये उनके अधरोंपर स्मित है, चञ्चल दृष्टिसे वे वनस्थलीकी ओर देख रहे हैं तथा विस्मययुक्त हुए-से बनकर उत्प्रेक्षा करते हुए, अपने अग्रज बलराम भैयाके प्रति आदरपूर्ण परिहासगर्भित वचनोंसे वनकी शोभा वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं—

ततश्च कौतुकविशेषलम्भनाय व्रजराजतनूजः सस्मितमीक्षमाणः सविस्मयवदुत्प्रेक्षमाणश्च निजाग्रजं प्रति सादरनर्मगर्भमेवं वनवर्णनं निर्ममे।

(श्रीगोपालचम्पूः)

वे बोले—'दाऊ भैया! नहीं-नहीं, देववर! सर्वदेवोत्तम! देखो सही, अहो! इन वृक्षसमूहोंकी चेष्टा तो देखो। ये तो तुम्हारे ब्रह्मादि-देववन्दित श्रीचरणाम्बुजकी वन्दना जो कर रहे हैं। अपने शाखाग्ररूप मस्तकोंपर विविध पुष्प-फलोंकी पूजोपचार-सामग्री लिये झुक-झुककर तुम्हें प्रणाम कर रहे हैं, देवशिरोमणे! तुमने अपने विहारस्थलमें वृक्षरूपसे जन्म धारणकर अपनी सेवा समर्पित करनेका इन्हें अवसर दिया है, इस परम सौभाग्यका दान किया है—यह देखकर ये अपनेको कृतार्थ अनुभव कर रहे हैं, देव! नमनके द्वारा अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं। सचमुच धन्य हैं ये कदम्ब, प्रियाल, पनस आदि वृक्षसमूह, जिनके हृत्तलमें ऐसे दिव्य भावोंकी लहरें हैं, जिनकी ऐसी पवित्रतम चर्या है। क्यों न हो, ये अज्ञानी—जड जो नहीं। अपितु इनके तो सौभाग्यके दर्शन-श्रवण करनेवालेका अज्ञान-तिमिर सदाके लिये विनष्ट हो जाता है। अहो! जिनके अन्तस्तलमें तुम्हारे श्रीचरणसेवनकी लालसा भरी है, उन्होंने ही तो ज्ञानके सारसिद्धान्तको हृदयंगम किया है! तुम्हारे चरणसेवनपरायण इन द्रुमसमूहोंमें कहाँ है तम अज्ञानका अंश। प्रत्युत तुम्हें सेवा समर्पित करके, आदर्श स्थापित कर, जगत्के तमोनाश—अज्ञान-निवारणके लिये ही इन्होंने इस वृन्दावनधाममें वृक्षयोनिको अङ्गीकार किया है—यही सत्य है।'

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ५)

देखहु हो ये द्रुम या बन के।
सब सुख करने, हरने मन के॥
सिखा निकरि परसत तुव पाइ।
जानत हौ कछु इन कौ भाइ॥
कहत कि हो ईस्वर जगनाइक।
हौ तौ तुम सबहिन सुखदाइक॥
ऐ परि हम पर बहुतै डरे।
जातें या बन के द्रुम करे॥

× × ×

बोले सुंदर स्याम, हे अग्रज बन कौं लखहु।
परम रम्य, सुखधाम, मिलि बसंत प्रफुलित तहाँ॥
प्यारी प्यारी मृदु द्रुम-लता मंजु रँजै नवेली।
देखौ झूमैं मिलि सुमन कौं स्वच्छ गुच्छै नवेली॥
फूले फूले नव बिटप ते पुष्प सौं भूरि भारैं।
मानौं चाहैं तव चरन लै भूमि पै सीस धारैं॥

श्रीकृष्णचन्द्र वृक्षोंका सुयश वर्णन कर रहे हैं। पर इतनेमें ही वह मधुपानरत भ्रमरावली 'गुन-गुन' कर वहीं एकत्र होने लगती है। अब इस समय कुसुमोंके परागचयनमें इस भ्रमरश्रेणीको रस नहीं; क्योंकि इसने नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका सौरभ जो पा लिया है। इसीलिये पुष्पगुच्छोंका परित्याग कर यह भ्रमरकुल भी वनस्थलीके इस अंशका ही आश्रय ग्रहण करता है। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको एक नवीन माध्यम प्राप्त हो गया। अब इस अलिकुलका ही मिस लेकर उनके वर्णनकी धारा आगे चल पड़ती है। वही आदरपूर्ण परिहासगर्भित स्वर है और वे कहते जा रहे हैं—'हे मेरे आदिपुरुष! पुरुषोत्तम! देखो, इन समीपवर्ती भ्रमरोंकी ओर दृष्टि-निक्षेप करो। ये तुम्हारे अखिलभुवनपावन यशका गान कर रहे हैं। तुम्हारे पुनीत यशका गान करते हुए निरन्तर तुम्हारे भजनमें ही ये संलग्न हैं। हे परमकारुणिक! इन्हें पहचानो तो सही! ये अधिकांशमें तुम्हारे ही भक्तश्रेष्ठ मुनिगण हैं। तुम यहाँ इस वृन्दावनमें पधारे हो अपने अनन्त ऐश्वर्यपर आवरण डालकर ही, तथा बाल्यक्रीड़ा-

रसमत्त होकर ही विचरण कर रहे हो। फिर भी अपने इष्टदेव तुमको इन सबोंने पहचान ही तो लिया। इसीलिये ये सब तुम्हें छोड़कर जा जो नहीं पाते! 'गुन-गुन' की ओटमें निरन्तर इनके मुखसे झर रही है तुम्हारी ही अमल कीर्ति और इसे प्रसारित करते हुए ये यहीं सर्वत्र घूम रहे हैं।'

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ६)

अरु देखहु या बन के भृंग।
बोलत डोलत तुम्हरे संग॥
जनु ये मुनिगन अलि ह्वै आए।
जद्यपि गुप्त, तदपि लखि पाए॥
× × ×
गावहिं तव जस अति चित चाही।
अखिल लोक तीरथ सम ताही॥
गूढ़ वेष धरि तव पद-कंजा।
भजहिं निरंतर भव-रुज गंजा॥

अब नीलसुन्दरकी दृष्टि आती है उनके ही दर्शनसे आनन्दविवश नर्तनशील मयूरोंकी ओर। तथा इधर आयी हैं दल-की-दल हिरणियाँ, जो निर्निमेष नयनोंसे देख रही हैं एकमात्र उनको ही। साथ ही ऊपर आम्र-शाखाओंपर कोकिल-कण्ठका पञ्चमस्वर भी प्राणोंमें रसका संचार कर दे रहा है। श्रीकृष्णचन्द्रने इन सबकी स्नेहभावनापर भी अपनी स्वीकृतिकी छाप डाल ही दी। वे इनका उल्लेख करते हुए कहने लगते हैं—'सर्वपूज्य मेरे भैया! समस्त वनवासी ही यथासाध्य तुम्हारी पूजा कर धन्य हो रहे हैं। देखो, ये मयूर तुम्हारे दर्शनसे परमानन्दमें निमग्न होकर नृत्य कर रहे हैं। ये मृगवधुएँ कुरङ्गनयनी गोपसुन्दरियोंके समान ही प्रेमपूरित स्निग्ध दृष्टिसे निहार कर तुम्हारा आनन्द-संवर्धन कर रही हैं। कोकिल-समूह अपने मधुर 'कुहू-कुहू' रवका विस्तार कर तुम्हारा स्वागत कर रहा है। अहा! धन्य हैं ये वनवासी प्राणी! धन्य है इनकी भावना! देखो, साधु-पुरुषोंकी भाँति ही तो इनके समस्त आचरण हैं। संतजनोंका यही नित्य स्वभाव है—गृहपर पधारे हुए अतिथिको वे अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी भेंट समर्पित करते हैं। उनकी सेवामें अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। भैया! मयूरोंने, हरिणियोंने, कोकिलने यही तो किया है। पक्ष-विस्तार कर आनन्द-नृत्य करनेके अतिरिक्त और है ही क्या इन मयूरोंके पास! स्निग्ध दृष्टिसे तुम्हें निरन्तर देखती रहें—बस, इतनी-सी ही क्षमता इन हरिणीगणोंमें है न! और अपने मधुपूरित कण्ठसे तान छेड़नेभरकी ही सामर्थ्य तो है इन कोकिलोंमें! देखो, स्पष्ट ही तो मानो ये कह रहे हैं—'तुम हमारे गृहपर पधारे हो, किंतु तुम्हारी सेवाके योग्य बस इतनी-सी ही वस्तु हमारे समीप है। इसे ही स्वीकार कर लो, देव!' अहा! साधुस्वभावके कितने सुन्दर निदर्शन हैं ये!—

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः॥
(श्रीमद्भा १०। १५। ७)

केकीगन नाचहिं मुद मानी।
गोपी इव सब मृगी सुहानी॥
पलक त्यागि निरखैं तव रूपा।
तव प्रिय करहिं बिना अनुरूपा॥
कोकिल कूकि-कूकि प्रिय बानी।
तव सतकार करहिं सुख मानी॥
साधुन कौ यह सहज सुभाऊ।
पूजहिं काय-बचन-चित चाऊ॥
गृह आगमन जानि जगदीसा।
अरपन करहिं जु बचन-पियूसा॥

'और तुम्हारी भी कितनी अपरिसीम कृपा है इन वनवासी चर-अचर प्राणियोंपर।'—श्रीकृष्णचन्द्र अबतक तो उन-उन स्थावर-जंगमोंकी सेवा-भावना, श्रीबलरामके प्रति उनके निश्छल अनुरागकी चर्चा कर उनके सौभाग्यका वर्णन कर रहे थे। किंतु अब उनके प्रति श्रीबलरामका अनुग्रह भी अद्भुत ही है, इस दृष्टिसे उनकी परम कृतार्थताका संकेत करते हुए

वे वन-वर्णनका उपसंहार करते हैं—'दादा, देखो काननकी इस धराको तुमने किस अद्भुत कृपाप्रसादका दान किया है। तुम्हारे आगमनसे यह कितनी धन्य-धन्य हो रही है। तुम्हारी वाराह-मूर्तिका स्पर्श पाकर यह कृतार्थ अवश्य हुई थी। पर उस समय कहाँ प्राप्त था इसे तुम्हारे चरणसेवनका परम सुदुर्लभ सौभाग्य। वाराहदेवके विशाल दंष्ट्राग्रपर ही इसे स्थान मिला था। तुम्हारे इन मृदुल सुकोमल चरणतलके स्पर्शका अवसर उस समय कहाँ था। किंतु आज तो तुम अनावृत-चरण हुए काननकी धरापर संचरण कर रहे हो। यह आज अनुक्षण तुम्हारे पादपद्मोंके स्पर्शसे अतिशय सौभाग्यशालिनी हो चुकी है। अहो! केवल धरा ही नहीं, धरासे सम्बद्ध सभी निहाल हो गये। देखो, ये क्षुद्र तृण-वीरुध—दूर्वा, कुश आदिने भी तुम महामहिमका चरणस्पर्श पा लिया। और ये हैं इधर द्रुम-लताएँ। तुम इन द्रुमोंसे फलोंका आहरण करते हो, लता-वल्लरियोंसे पुष्प-पल्लवका चयन करते हो। उस समय तुम्हारे नख-चन्द्रसे ये स्पृष्ट होते हैं। कितना, कैसा अपरिसीम सौभाग्य है इनका! अहा! उधर देखो, वह है तपनतनयाका मञ्जुल प्रवाह। बह रहा मानस-गङ्गाका शान्त स्रोत। सामने अवस्थित हैं गिरिराज गोवर्धन और अन्य पर्वतमालाएँ। ये रहे ऊपर, सामने, पीछे, दक्षिण वामपार्श्वमें उड़ते, बैठे, कलरव करते हुए विहंगम-कुल तथा सर्वत्र काननमें स्वच्छन्द विचरण करते हुए पशुसमूह। ओह! इन सरिता, सर, गिरि, खग-मृग—सबपर ही तो तुम्हारी प्रतिदिन सकरुण दृष्टि पड़ती है। कितने सौभाग्यशाली हैं ये! अहो! भाग्य देखो इस श्यामवर्णा गोपी नामकी लताका! कहाँ तो तुम्हारा यह सुविस्तीर्ण वक्षःस्थल वैकुण्ठवासिनी लक्ष्मीके लिये भी स्पृहणीय है तथा उसीपर पुष्पमाल्यके साथ ग्रथित होकर ये लताएँ भी झूल रही हैं! दादा! स्वयं देख लो! तुम्हारे इस अप्रतिम कृपा-प्रसादका दान पाकर ये सब आज कितने धन्य-धन्य हो रहे हैं।'

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ८)

धन्य धरनि, तृन, बिरुध सब तव पद परस, सुजान।
करज परस करि द्रुम लता लहैं परम कल्यान॥
सरिता गिरि खग मृग बन जेते।
धन्य धन्य पसु तन ए तेते॥
मृगी एकटक बदन निहारी।
प्रेमसहित ए धन्य बिचारी॥
तव भुज मध्य रमा चह बासू।
गोपिन कहँ सो सहज सुपासू॥
धन्य भाग्य गोपिन के भूरी।
को बरनै महिमा अति रूरी॥
× × ×
धनि यह धर जापर पगु धरौ।
धनि ये कुंज, जहाँ संचरौ॥
धनि ये सर-सरिता, जहँ खोरत।
धनि ये कुसुम, जिनहि कर तोरत॥

श्रीकृष्णचन्द्र इतना कहकर रुक गये एवं अग्रजकी ओर सस्मित दृष्टिसे देखने लगे। श्रीबलरामके कर्णपुटोंमें मानो अबतक पीयूषकी धारा बह रही हो, इस प्रकार वे अत्यन्त प्रफुल्लित होकर अनुजके इस वृन्दावन-वर्णनकी वाग्मिताका रस ले रहे थे। पर जब यह विराम आया, नीलसुन्दरने दाऊ दादाका रुख जान लेनेके लिये उनके नेत्रोंसे अपनी चारु चञ्चल दृष्टि मिला दी, मौन होकर वे प्रतीक्षा-सी करने लगे, तब बलरामके अधरोंपर भी एक विचित्र मन्द मुसकानकी छाया आयी और वे कह उठे—'भैया रे श्रीकृष्ण! वन-वर्णनके मिससे तूने जो बातें कहीं, वैसे गुणगणोंसे समलङ्कृत तो तू ही है रे! ईश्वर तो तू है। दूसरेका नाम इस प्रसङ्गमें क्यों सान दे रहा है?'

अथाग्रजश्चानुजवाचममृतमिवाचम्य स्मित-माचरन्नुवाच। भवादृश एव तादृशगुणगणभागीश्वरः कथमन्यं तत्र गण्यं करोतीति॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

फिर तो नीलसुन्दरके दृगोंमें एवं मुखचन्द्रपर एक पवित्रतम संकोचकी छाया-सी आ ही गयी। कदाचित्

व्रजमहाराज्ञी यहाँ इस अवसरपर उपस्थित होतीं तो वे निश्चय ही उनके अञ्चलसे अपना मुखसरोज आवृत कर लेते। पर यह तो सम्भव नहीं। इसीलिये एक बार तो उन्होंने अपने ही अञ्जलिपुटसे अपने मुख-कमलको ढक लेना चाहा, करपल्लवोंने नेत्रोंको, सुचिक्कण कपोलोंके कुछ अंशको आवृत भी कर लिया। किंतु दूसरे ही क्षण उन्हें संकोचनिवारणके योग्य स्थानकी स्मृति हो आयी। अत्यन्त समीप ही तो दाऊ दादा खड़े हैं। बस, वे दौड़े, अपनी दोनों भुजाएँ दाऊ दादाकी ग्रीवामें झुला दीं और मुखचन्द्र तो उनके विशाल वक्षःस्थलकी ओटमें छिप ही गया। अग्रजने भी अनुजको अपने भुजपाशमें भर लिया! दोनों ही हँस रहे हैं—श्रीबलराम तो स्पष्टरूपसे एवं नीलसुन्दर अपना मुख छिपाये ही। वे असंख्य गोपशिशु भी हँसने लग जाते हैं—इसलिये नहीं कि उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी एवं बलरामकी इन उक्तियोंमें संनिहित तत्त्वविशेषकी गन्ध लगी हो; अपितु इसलिये कि उनके कन्नू भैयाने, दाऊ दादाके साथ विनोदकी होड़में हारकर अपना मुख छिपा लिया है! दाऊ दादाने अत्यन्त सुन्दर उत्तर कन्नूको दे दिया। वे सख्य-रस-मत्त शिशु इस बातको नहीं जानते, कभी जान पायेंगे ही नहीं कि उनके साथ खेलनेवाले ये व्रजेन्द्रनन्दन, ये बलराम भैया ही समस्त तत्त्वोंके सारभूत परम तत्त्व हैं, दोनों ही अभिन्न हैं। इसका विश्लेषण तो करते हैं, कर रहे हैं अन्तरिक्षचारी अमरवृन्द—जिनके नेत्रोंमें यह दिव्य झाँकी भरी है और कर्णपुटोंसे जिन्होंने अग्रज-अनुजकी इस चर्चाका अमृत पान किया है। बस, वे ही जानते हैं—'राम-श्याम तत्त्वतः अभिन्न अवश्य हैं'। साथ ही बलरामने भी इस समय यह कहा है सर्वथा बाल्यावेशके प्रवाहमें ही, फिर भी श्रीसङ्कर्षण बलरामका वह उत्तर कितना सत्य तथ्य है! परम सत्य है वह! किंतु गोपशिशुओंने तो उसमें आदिसे अन्ततक केवल परिहासका ही रस लिया है। और वे हँस रहे हैं इसीलिये कि उनका कन्नू भैया खेलमें तो बहुत बार हार गया है, पर बातोंमें कभी नहीं हारता, दाऊ दादा भी उसका उत्तर नहीं दे पाते। परंतु आज वह हार गया। दाऊ दादाको प्रत्युत्तर न दे पाया! कौन समझाने जाय उन्हें—'श्रीकृष्णचन्द्रके प्यारे सखाओ! वे तुमसे हारते हैं, सदा हारे ही रहेंगे; पर वे हैं नित्य अजेय।' और समझानेपर भी इस तत्त्वज्ञानके टिकने-योग्य स्थान ही कहाँ है उनके सख्यमसृण अन्तस्तलमें।

अस्तु, इस प्रकार हास-परिहासका रस लेकर, परम सुन्दर वृन्दावनकी शोभा निहारकर प्रसन्नचित्त हुए श्रीकृष्णचन्द्र अब गोपशिशुओंके सहित गिरिराज-परिसरमें अवस्थित मानसगङ्गा-तटपर गोसंचारण करते हुए विविध क्रीड़ाकी अवतारणा करने चले। उनका दिव्य नित्य नवीन दैनंदिन विहार आरम्भ हुआ—

एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून्।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ९)

एहि बिधि बल सौं बरनि कृपाला।
लखि बृंदाबन-प्रभा बिसाला॥
अति प्रसन्न मन सखन समेता।
रमत भए हरि कृपा-निकेता॥
गिरि समीप सरिता-तट सुंदर।
धेनु चरावत हरि गुन-मंदिर॥
सो छबि बरनि सकै नहिं कोऊ।
सेष आदि लखि छकि रहे सोऊ॥

× × ×

एहि बिधि बिहरत बृंदाबन में।
छिन-छिन अति रति उपजत मन में॥

382

श्रीकृष्णका वृन्दावन-विहार

उन अखिललोकपाल बालगोपालका वनविहार भी निराला ही है। वे जा तो रहे हैं अरण्यकी शोभा निहारते हुए—

राम स्याम आगें चले बन सोभा देखत।
संग सखा सुख कौं लहैं सुभ भाग बिसेखत॥
डुलत सुमन मधु स्रवत तहँ, धुंधर उड़त पराग।
बहतु गंध अलि बंध जे, लेत उमगि अनुराग॥

किंतु साथ ही एक-से-एक मनोरम कौतुकका निर्माण भी होता जा रहा है। कभी तो वे अपने ही श्रीअङ्गके सौरभपानसे मदान्ध हुए भ्रमरोंका 'गुन-गुन' रव सुनकर उस गुञ्जनका ही अनुकरण करने लगते हैं—इतनी सफल एवं सरस अनुकृति कि उनके नित्य सहचर अग्रज श्रीबलरामको भी अनुजके मुखसे निस्सृत गुञ्जन-स्वरका यह झंकार विस्मित कर देता है और वे उल्लासमें भरकर स्वयं भी इस क्रीड़ामें योगदान करने लग जाते हैं। तथा उन गोपशिशुओंके आनन्दका तो कहना ही क्या है। उनके सरल, सख्य-रसभावित हृदयकी भावना बरबस बाहरकी ओर उमड़ चलती है—अपने कोटि-कोटि-प्राणप्रिय कन्हैया भैयाके लिये प्रशंसाके गीतका एवं 'अहाहा! अरे! वाह रे, कन्नू भैया!' इस साधुवादका मञ्जुघोष पद-पदपर गूँजने लगता है। इतना ही नहीं, उन शिशुओंका ह्रत्तल न जाने नीलसुन्दरके कितने शतसहस्र पुनीत प्रेमिल रसमय चरितोंके संस्मरणसे नित्य पूर्ण है। किसका द्वार खुले, यह नियम थोड़े ही है। इसके अतिरिक्त वे बालक भी असंख्य जो हैं। आनन्दविभोर होकर—जिसके मनमें श्रीकृष्णचन्द्रकी जिस लीलाकी स्फूर्ति हो जाय, बस, उसीका गीत—सर्वथा अपनी विलक्षण प्रतिभासे ही रचकर वह गाने लगता है। और आश्चर्य तो यह है कि उसने कभी तालस्वरकी योजना सीखी नहीं, फिर भी कहीं स्खलन नहीं है। ठीक लयमें बँधी-सी उसके कण्ठकी धारा भी मानो दौड़ी जा रही है—नीलसुन्दरके श्रीअङ्गसे व्यक्त हुई उन-उन कौतुकमयी चेष्टाओंके पीछे-पीछे, उस चिन्मय रस-प्रवाहके छूती हुई-सी। उधर तो दल-के-दल मधुमत्त भौंरे मँडरा रहे हैं, कुछ व्रजेन्द्रनन्दनके कण्ठदेश एवं वक्षःस्थलपर झूलती हुई वनमालापर भी आ विराजे हैं—इन सबका एक स्वाभाविक गुञ्जन है, और इधर नीलसुन्दरकी अद्भुत अलौकिक परम मनोहारिणी अनुकृतिका रागमय स्वर स्पन्दित हो रहा है। तथा उनमें मिल रही हैं शिशुओंके आह्लादपूर्ण श्रीकृष्णसुयशसंगीतकी लालित लहरियाँ। तीनोंका विचित्र सुन्दर सम्मिश्रण है—

अत्र भ्रमराणां स्वजातीयस्य स्वरमात्रस्य गानं श्रीभगवतस्तदनुसारिस्वरस्य तदुचितरागस्य च अनुव्रतानां तु तयोर्गीलबद्धतच्चरितस्य चेति मिथोगानमेलनं ज्ञेयम्।

(वैष्णवतोषिणी)

विचित्र-सा समा बाँधा है वृन्दवनविहारीने।

क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमानचरितः स्रग्वी सङ्कर्षणान्वितः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १०)

जे मदांध अलि रव सुभ गाना।
तेहि अनु सुभग गान हरि ठाना॥
गोप सुजस गावत हरि केरे।
बिहरत बिपिन सुखन सुख हेरे॥

कभी व्रजराजनन्दनके कर्णपुटोंमें मधुर कोमल आलाप करते हुए शुककी वह मनोहारिणी ध्वनि भर उठती है और वे तत्क्षण उससे भी अधिक सरस स्वरमें कीरका ही अनुकरण करने लगते हैं। कभी कोकिल-कूजनकी मधुर पञ्चम तान सुनकर उसकी अपेक्षा भी मृदुलतर कण्ठसे ठीक वैसे ही राग वे भी भरने लगते हैं। और फिर तो कुछ ही क्षणोंमें वे शुक-पिक आदि विहंगम मौन धारण करेंगे ही, कर ही लेते हैं; शान्तस्थिर होकर वे अपने इस अनोखे प्रतिद्वन्द्वी

गायककी ओर मानो देखने लग जाते हैं, उन्हें लज्जा-सी लगने लगती है—आह! कहाँ हमारी यह कर्कश ध्वनि और कहाँ इन नीलसुन्दरका मधुस्यन्दी स्वर!—

अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यैः शुकं क्वचित्।
क्वचित्सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम्॥

कभी आनन्दमें भरे सुन्दर अस्फुट रवका सृजन करते हुए कलहंसोंका वह शब्द ही उनके कौतुकका विषय बनता है। उस हंसकुलके अत्यन्त समीप वे जा पहुँचते हैं, उनके कूजनमें ही अपना स्वर मिलाने लगते हैं। उस समय किसकी सामर्थ्य है, जो तनिक-सा भी अन्तर पा सके उन हंसोंके नैसर्गिक सुन्दर रवमें तथा व्रजेशके स्नेहजालमें नित्य उलझे हुए इन अद्भुत बालमरालके द्वारा रचित आश्चर्यमयी अनुकृतिमें। तथा इसी बीचमें कभी उनकी दृष्टि आकर्षित हो जाती है वनस्थलीके विभिन्न भू-भागोंपर नृत्य करते हुए मयूरोंकी ओर। बस, श्रीकृष्णचन्द्र उधर ही दौड़ चले, वहीं जा पहुँचते हैं। अतिशय शीघ्रतासे अपने पीताम्बरके उत्तरीयको उन्होंने हाथोंके सहारे पीछेसे फैलाकर ऐसा बना लिया मानो किसी नृत्यपरायण अभिनव मयूरका विस्तारित पीताभ पुच्छ हो। तथा यह हो जानेके अनन्तर देखने ही योग्य रहता है उस मयूरदलके तालबन्धपर, उनके सम्मुख ही नीलसुन्दरका अनुकरण-नृत्य! उनके महामरकत-श्यामल श्रीअङ्गोंकी विचित्र भङ्गिमाएँ देख-देखकर वे असंख्य गोपशिशु उच्च कण्ठसे हँसने लग जाते हैं। उनकी वह उन्मुक्त हँसी गिरिपरिसरमें सर्वत्र गूँज उठती है। मयूरदलको संकोच होने लगता है। पुच्छ संकुचितकर, नृत्यका विराम कर वे देखने लग जाते हैं श्रीकृष्णचन्द्रको ही। उन्हें सचमुच यही अनुभूति होती है—ऐसा सुन्दर नृत्य वे कर जो नहीं सकते!—

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ११)

कबहुँक कल हंसनकी बानी।
सुनि तेहि आपु सरिस मन जानी॥
बिधि बाहनकी सुभ गिरा, तेहि सम बोलत बैन।
कबहुँक केकी नृत्य लखि, नाचत हरि सुख ऐन॥

× × ×

कहुँ कहुँ हंसन मिलि सु-कलोलत।
वैसेंहि डोलत, वैसेंहि बोलत॥
कहूँ मत्त निरतत दिखि मोर।
तैसेंहि निरतत नंदकिसोर॥

और कदाचित् बाल्य-विहारके इस रसमय आवेशमें श्रीकृष्णचन्द्र आत्मविस्मृत-से हो गये, क्रीड़ा-दर्शनके उन्मादी सुखमें डूबकर शिशु अपनी सुध-बुध खो बैठे तथा गायें संरक्षणके अभावमें पूर्णतया स्वतन्त्र होकर विचरण करती हुई बहुत दूर चली गयीं, उस समय व्रजेन्द्रनन्दन अकस्मात् जाग-से उठते, उनके नित्य-नवसुन्दर मुखारविन्दपर एक विचित्र-सी व्याकुलताका चिह्न परिलक्षित होने लगता, 'अरे भैयाओ! देखो तो सही, गायें कहाँ-से-कहाँ चली गयीं।' कहकर सखाओंको सावधान करते। शिशुओंके नेत्रोंमें किञ्चित् भयकी छाया-सी भर जाती; किंतु दूसरे ही क्षण नीलसुन्दरके बिम्बारुण अधर-पल्लवपर वह पूर्वका स्मित व्यक्त हो जाता, वे दौड़कर निकटवर्ती कदम्बकी ऊँची शाखापर चढ़ जाते। और फिर गूँज उठता उनका मेघ-गम्भीर नाद—'अरी पिशङ्गि! मणिकस्तनि! री प्रणतभृङ्गि पिङ्गेक्षणे! अरी मृदङ्गमुखि! धूमले! हंसि! वंशीप्रिये! आ जा, आ जा री! हीओ! हीओ!' इस प्रकार प्रत्येकका नाम ले-लेकर, स्नेहविवश होकर वे आह्वान करने लगते। उनकी यह अतिशय मधुर मनोहर जलद-ध्वनि उस असंख्य गोराशिके, गोप-शिशुओंके कर्णपुटोंमें किस अनिर्वचनीय पीयूषस्रोतका सृजन कर देती, इसे कौन बताये?

पिशङ्गि मणिकस्तनि प्रणतभृङ्गि पिङ्गेक्षणे
मृदङ्गमुखि धूमले शबलि हंसि वंशीप्रिये।

इति स्वसुरभीकुलं मुहुरुदीर्णहीहीध्वनि-
र्विदूरगतमाह्वयन् हरति हन्त चित्तं हरिः॥

× × ×

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून्।
कश्चिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १२)

कबहुँक दूरि निहारि, गोधन निज अरु सखन के।
सखा संत हितकारि, जलद गिरा टेरत पसुन॥

× × ×

कबहूँ दूरि जाइ जब गाइ।
ललित कदंबन पर चढ़ि जाइ॥
आनँदघन सम सुंदर टेरनि।
इत उत वह हेरनि पट-फेरनि॥
हे गंगे, हे हे गोदावरि।
हे जमुने, हे भावरि, चावरि॥
हे मंजरि, हे कुंजरि, सीयरि।
हे हे धौरी धूमरि, पीयरि॥

अन्तरिक्षचारी अमरगण देखते—व्रजेन्द्रनन्दनकी पुकार सुनते ही गायोंने तत्क्षण अपने मुखका अर्धचर्वित तृणग्रास उगलकर सिरको ऊपर उठा लिया, प्रेमविवश हुई एक साथ सब-की-सब हाम्बारव कर उठीं तथा प्राणोंका सम्पूर्ण वेग लगाकर दौड़ चलीं अपने नित्यपालक नन्दनन्दनके समीप—

स्रवन नाद सुनि, मुख तृन धरि सब चितईं सीस उठाय।
प्रेम बिबस ह्वै, हूँक मारि, चहुँ दिसि ते उलटीं धाय॥

और नन्दनन्दन—जय हो महामहेश्वरकी उस प्रेमाधीनताकी! वे आनन्द-विह्वल होकर अपने पीताम्बरसे गायोंके मुखपर लगी हुई रजको पोंछते हैं—

चक्रभुज प्रभु पट पीत लिऐं कर, आनँद उर न समाय।
पोंछत रेनु धेनु के मुख तें गिरि गोवर्धन राय॥

गायोंकी आँखें छल-छल करने लगती हैं। गोपशिशु यह देखकर आनन्द-विभोर होने लगते हैं। विमानचारी देववर्गका हृदय भी भर आता है। साथ ही इन धेनुसमूहके सजल नयनोंमें उन्हें एक अतिशय रहस्यमय संकेत झाँकता-सा दीख पड़ रहा है; क्योंकि ये साधारण, प्रकृति-परम्परासे सम्भूत गोधनश्रेणी हों, ऐसी बात तो है नहीं। ये तो हैं परब्रह्म परमपुरुष श्रीकृष्णचन्द्रके सदंशमें विराजित संधिनी शक्तिकी नित्य परिणति। इनकी भी प्रत्येक चेष्टा कुछ विशेष अर्थ रखेगी ही—ठीक वैसे ही जैसे इनके पालक नीलसुन्दरके दृगोंका, अधरोंका, श्रीअङ्गोंका प्रत्येक स्पन्दन ही मर्त्यजगत्के लिये, स्थूल-सूक्ष्म कारण—सम्पूर्ण विश्वके लिये, असंख्य ब्रह्माण्डश्रेणीके लिये न जाने क्षण-क्षणमें ही कितने रहस्य-तथ्योंका संकेत करता रहता है। यह साधारणतः सम्भव ही कहाँ है कि ये गायें स्वेच्छापूर्वक अपने कोटि-प्राणप्रिय श्रीकृष्णचन्द्रके समीपसे दूर चली जायँ। और यदि गयी हैं तो निश्चय ही अचिन्त्य लीला-महाशक्तिकी प्रेरणासे, अघटनघटनापटीयसी योगमायाके नियन्त्रणमें ही यह संघटित हुआ है। व्रजेन्द्रनन्दनके लीलाक्रमका साङ्गोपाङ्ग सुचारु निर्वाह होते रहनेके लिये ही ऐसा हुआ है। तथा उस परिस्थितिमें आश्चर्य ही क्या है कि कोई इनसे—इनकी किसी भावमयी चेष्टासे एक सुन्दर-सा संकेत पा ले। इसीलिये देवसमाजको प्रतीत हो रहा है, मानो वे गायें मूक इङ्गित कर रही हों—प्रपञ्चके जीवो! देखो, हमारी दशा! सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम गोपेन्द्रनन्दन नित्य हमारे साथ हैं, एक-से-एक बढ़कर मनोरम विहारकी अवतारणा कर वे नित्य हमारा आनन्दवर्द्धन कर रहे हैं; फिर भी पशुस्वभाववश हम सब उन्हें परित्याग कर मृदुल तृणोंके लोभसे चली ही जाती हैं। किंतु धन्य है करुणावरुणालयकी अहैतुकी कृपा! वे हमें कदापि भूलते नहीं, दूर हट जानेपर भी वे हमारा आह्वान करते ही हैं। और समीप आते ही अपने अपरिसीम स्नेहसिन्धुमें हमें निमग्न कर ही देते हैं। ठीक ऐसी-सी दशा तुम्हारी है। श्रीकृष्णचन्द्र नित्य तुम्हारे ही सहचर हैं। तुम्हारे सुखके लिये एक-से-एक सुन्दर रचनाओंका प्रकाश कर, तुम्हारे पीछे नित्य अवस्थित

रहकर खेल रहे हैं ये। कदाचित् तुम इनकी ओर दृष्टि केन्द्रित कर, इनके समीप ही स्थित रहकर उन रचनाओंका आनन्द ले सकते। फिर तो व्रजेन्द्रकुलचन्द्रका यह नित्य लीलाविहार तुम्हारा भी निजस्व होता। किंतु तुम भ्रान्त हो रहे हो, पशुता ही तुममें नित्य जागरूक है। इसीलिये तो अपने नित्य सखा नन्दनन्दनसे दृष्टि हटाकर, उनसे अत्यन्त सुदूर जाकर विषयोंके प्रलोभनमें उलझे हो! इतनेपर भी इन परम कृपालु नीलसुन्दरकी अनन्त, पारावारविहीन कृपा किसी-न-किसी—मिससे अत्यन्त सामान्य नगण्यतम अवसरको निमित्त बनाकर—तुमपर उमड़ ही चलती है, उनका प्रच्छन्न आह्वान तुम्हारी पशुताके निविडतम आवरणको भेदकर तुम्हें आकर्षित करने ही लगता है। अहा! कैसी अप्रतिम अपरिमित कृपाका दान है यह! जीवो! अब भी सचेत होकर अविलम्ब इन विषयोंके चाकचिक्यसे दृष्टि फेर लो, पीछेकी ओर—अन्तर्मुख होकर देखो, श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हें पुकार रहे हैं। उनके इन इन्द्रनीलद्युति श्रीअङ्गोंमें ही वृत्तियोंको विलीन कर दो, उनके सांनिध्यका कदापि परित्याग मत करो, उनके चरणसरोरुहमें ही नित्य अवस्थित रहो। यहाँ ही तुम्हें सम्पूर्ण अपेक्षित वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी। सत्य-सत्य—ध्रुव सत्य यह है—इन नीलसुन्दरके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी सुख है ही नहीं। इनसे विरहित सुखकी अनुभूति तो भ्रान्तिमात्र है। जो पशु—निर्बुद्धि, विवेकहीन हैं, उन्हें ही यह भ्रम होता है। वे ही श्रीकृष्णचन्द्रसे दूर-दूर हटते रहकर भी सुख ढूँढ़ते फिरते हैं—

पशूनिति श्लेषेण श्रीकृष्णयाथार्थ्यतो दूरं गत्वा निर्बुद्धित्वमुक्तम्।

(वैष्णवतोषिणी)

अस्तु, दूर गयी हुई गायें निकट आ गयीं। बस, इतना-सा अभिप्रेत था लीलाविहारीको और यह हो चुका। अब फिर क्या कौतुक हो? यह लो, आगे-से-आगे शिशुओंका प्रस्ताव प्रस्तुत है। एकने कहा—'अरे कनू! चकोरकी बोली बोल सके तो जानूँ।' दूसरेने क्रौञ्चकी, तीसरेने चक्रवाककी, चौथेने लवाकी बोली सुननी चाही। एकने गम्भीर मुद्रा बनाकर कहा—'देख रे कन्हैया! मयूरके समान नाच लेना तो उतना कठिन मुझे नहीं दीखता। हाँ, उसके-जैसे बोलकर दिखा।' अनेक शिशु हैं, अलग-अलग रुचि है। और उधर श्रीकृष्णचन्द्रका आकर्षण किसपर नहीं है? ये चकोर, क्रौञ्च, चकवा-चकवी, भारद्वाज—सभी तो एकत्र हो रहे हैं उनके समीप। श्रीकृष्णचन्द्र सबका मनोरथ पूर्ण करते हैं, सबका अभिनन्दन स्वीकार करते हैं। शिशुओंने देखा—'अद्भुत कला जानता है यह कन्हैया! देखो न, क्षणोंमें ही पहले तो इसने इन सब पक्षियोंके रवका यथार्थ अनुकरण करके पृथक्-पृथक् दिखाया और अब न जाने कैसे इसके मुखमें एक साथ इन समस्त विहंगमोंका कलरव सुन पड़ रहा है।' तथा राशि-राशि वे वन-पक्षी शान्त सुस्थिर होकर देख रहे हैं उनके ही रवका अनुकरण करनेमें तन्मय-से हुए व्रजराजनन्दनकी ओर! वे सब वृन्दावनमें, अपने आवासस्थलमें वनेश्वरका आगमन जानकर, स्नेहके प्रबल आकर्षणसे खिंचकर उन्हें देखने ही तो आये हैं, उनका स्वागत करने ही आये हैं न। फिर क्यों नहीं वनके राजा भी उनकी ही भाषामें उनके स्वागतका उत्तर दें! प्रजाके प्राणोंमें अपना प्राण निरन्तर न मिला सके, वह राजा कैसा। किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे इन स्थावर-जंगम वनवासियोंको ऐसा ही राजा मिला है, जो सर्वथा उनके जीवनमें अपना जीवन मिलाकर शासन कर सके। इसीलिये ऐसे स्नेहमय सम्राट्को सामने देखकर, उन-उनकी भाषामें ही उन्हें बोलते देखकर विहगकुलके हर्षका पार नहीं, हर्षातिरेकवश ही वे सब इस समय शान्त स्थिर हो गये हैं। न जाने कितनी देर इस सघन वनमें विहंगोंकी यह प्रेमजन्य नीरवता तथा चञ्चल श्रीकृष्णचन्द्रकी यह अनुकरण-क्रीडा बनी रहे यदि अचिन्त्यलीलामहाशक्ति

सदा सचेष्ट न रहें, लीलाका नवीन क्रम उपस्थित न कर दें। वे तो करेंगी ही—वह देखो, वनके सघनतम अन्तर्भागसे हिंस्र पशु व्याघ्र-सिंह भी बाहर उन्मुक्त वनस्थलीमें पगडंडियोंपर चले आये। नीलसुन्दरके प्रति कितना स्नेह भरा है उनकी आँखोंमें, यह देखते ही बनता है। किंतु नीलसुन्दर—बलिहारी है लीलाविहारीकी इस लीलाकी! वे तो भगे, 'अरे ददा रे दादा! सिंह आया रे, भैयाओ! भगो, भगो!'—इस प्रकार अत्यन्त भयभीत से बनकर चीत्कार कर भागे जा रहे हैं। अवश्य ही उन शिशुओंको कोई भय नहीं। वे सब तो ताली पीट-पीटकर हँस रहे हैं, हँस-हँसकर आनन्दभरी दृष्टिसे इन हिंस्र पशुओंकी ओर निहारकर, उनके और भी समीप जाकर श्रीकृष्णचन्द्रको पुकार रहे हैं—'अरे कनू! नेक इधर आ!' तथा उनके कनूको भी तो लौटना ही है। यह तो भयका एक अभिनय था। किसे पता नहीं है—वृन्दावनके हिंस्र पशुओंमें अहिंसाकी नित्य प्रतिष्ठा है, निसर्गसे ही परस्पर वैरसम्पन्न जन्तुओंमें भी वहाँ श्रीकृष्णचरणसरोरुहके प्रभावसे सदा स्नेहकी सरिता उमड़ती रहती है। पर श्रीकृष्णचन्द्रको तो खेलना है। उन्होंने सोचा था—'सब सखा तो हँसेंगे ही; हाँ, एक-दो भी कहीं अचानक मेरे चीत्कारसे चञ्चल होकर मेरे साथ भाग चलें, तब देखना है·····।' किंतु उनकी यह इच्छा इस समय पूर्ण न हो सकी। जिनके भृकुटीस्पन्दनमात्रसे असंख्य ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन, लय होता है, उन सत्यसंकल्प महामहेश्वर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका यह मनोरथ अपूर्ण रह गया! बस, यही आश्चर्यमयी, त्रिभुवनमोहिनी लीला है लीलामयकी! जो हो, श्रीकृष्णचन्द्र अधरोंपर मन्द मुसकान लिये लौट आये वहीं सखाओंके समीप तथा वे व्याघ्र, सिंह आदि स्नेहविह्वल होकर उनके चरणसरोजोंके निकट लोटने लगते हैं—

चकोरकौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। १३)

चक्र चकोर कुंच अरु भारत।
मोरादिक द्विज जे बन राजत॥
तेहि अनुकरन बोल गति तासू।
एहि बिधि खेलत कृपानिवासू॥

इस प्रकार नये-नये कौतुक करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र वनमें न जाने कितने दूर चले जाते हैं। क्षणभरके लिये भी कहीं विश्राम नहीं, उन शिशुओंको भी तनिक-सी श्रान्तिका भान नहीं। उनकी यह क्रीडा अविराम चलती ही रहती है। अग्रज श्रीबलराम भी अनुजके प्रत्येक खेलमें सम्मिलित हैं ही। इस मण्डलमें सबसे अधिक बलशाली भी वे ही हैं। पर आश्चर्य यह है कि यदि कहीं क्रीड़ाश्रमजन्य एक सुन्दर-सी क्लान्ति आती है तो वह अयेगी सर्वप्रथम श्रीरोहिणीनन्दनके गौर मुखारविन्दपर ही और जहाँ यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र सब कुछ छोड़कर अपनी वाम भुजासे श्रीबलरामके कण्ठको वेष्टित कर लेंगे एवं दक्षिण करपल्लवसे अपना पीताम्बर लेकर अग्रजका मुख पोंछते हुए पूछेंगे ही—'दादा! अब तो तुम थक गये दीखते हो!' तथा उस समय अग्रज वास्तवमें थके हैं या अनुजके प्रति उमड़ा हुआ अन्तस्तलका स्नेह ही स्वेदबिन्दुओंके रूपमें व्यक्त हुआ है, श्रीकृष्णचन्द्रको क्रीड़ासे विरत करके विश्राम करा देनेकी भावना ही क्लान्तिरूपमें बाहर आयी है—इसका कोई निर्णय न होनेपर भी श्रीबलरामके मुखसे निश्चय ही यह उत्तर मिलेगा—'हाँ रे भैया कृष्ण! मैं तो थक गया रे!' तो आज भी ऐसा ही हुआ और इसीलिये अब दूसरा आयोजन होना ही है। बस, तुरंत ही समीपवर्ती उस विशाल वटकी स्निग्ध शीतल छायामें मण्डली जा विराजती है। वहाँ अतिशय मनुहारपूर्वक श्रीबलरामकी परिचर्या आरम्भ होती है। एक वयस्क गोपशिशुके अङ्कमें अपना

मस्तक रखकर उन्हें लेट जाना पड़ता है। अनुजकी यही इच्छा है। इस इच्छाका सर्वथा अनुसरण करना उनके लिये अनिवार्य है। अन्यथा वे जानते हैं—इससे तनिक-सा प्रतिकूल चलनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चेष्टाओंका विराम तो होनेसे रहा, अनुजके प्रत्येक प्रेमिल आदेशका पालन करके ही वे उन्हें अपने पास कुछ समयके लिये बैठाये रखनेमें समर्थ हो सकते हैं। इसीलिये नीलसुन्दरकी प्रत्येक प्रार्थना किसी ननु, न च के बिना ही स्वीकृत होती जा रही है। उस शिशुका अङ्क तो सुन्दर उपधान (तकिया) बन ही चुका। हरित मृदुल तृणराजिका सुन्दर आस्तरण भी अरण्यमें वहाँ पहलेसे ही प्रस्तुत कर रखा है। श्रीबलरामके पृष्ठदेशसे संलग्न उनका सुन्दर नील दुकूल अपने-आप उस तृणशय्याका आवरणवस्त्र (बिछौनेकी चादर) बन रहा है। और अग्रजके पादपद्मोंको धारण कर लेते हैं नीलसुन्दर अपने अङ्कमें। यह व्यवस्था हुई है अपने कोटि-प्राणप्रिय दादाको विश्राम करानेकी और दादा भी बाध्य हैं इसे ज्यों-की-त्यों स्वीकार करनेके लिये। अस्तु, यह हो जानेके अनन्तर अब अपने सुकोमलतम करपल्लवोंसे नीलसुन्दर श्रीबलरामका पादसंवाहन आरम्भ करते हैं। इस समय श्रीरोहिणीनन्दनके हृदयकी क्या दशा है, इसकी थाह पा लेना सहज नहीं। कोई तटस्थ इतना ही कह सकता है—स्नेहके अतिशय प्रबल झंझावातको हृत्तलमें ही रुद्ध रखकर अनुजकी ऐसी प्रत्येक रसपूरित सेवाको स्वीकार करते चले जाना, बस, एकमात्र उन्हींके लिये सम्भव है! जो हो, बड़ी देरतक पादसेवाके द्वारा अग्रजका श्रम हरणकर श्रीकृष्णचन्द्र देखते हैं—'दादाको निद्रा आयी या नहीं?' किंतु दादा तो वैसी ही मुग्ध-दृष्टिसे अनुजको निहार रहे हैं। 'ठीक है, अरे सुबल! दादाके चरणतलको मेरी ही भाँति तू अपने अङ्कमें लेकर दबा, मैं व्यजन करूँगा; अभीतक दादाको नींद नहीं आयी रे!'—इस आदेशके साथ नीलसुन्दरने वटपत्र-निर्मित एक छोटी सुन्दर-सी पंखी दाहिने हाथमें ले ली और श्रीबलरामके मुखपर बयार करने लगे वे। पर दादाके नेत्रसरोजोंमें अब भी तन्द्राका संचार न हो सका। 'अच्छा दादा! मैं तुम्हारा सिर सहलाऊँ, फिर तो तुम्हें नींद आ ही जायगी!'—व्यजन तो चल ही रहा है, साथ ही वाम करपल्लवसे श्रीकृष्णचन्द्र बड़े भैया बलरामके सुन्दर केशोंको सहलाने लगते हैं। ओह! कितनी अनुरागपूरित आतुरता समायी हुई है श्रीकृष्णचन्द्रके उन सलोने दृगोंमें—'कैसे मेरे दादाकी आँखोंमें थोड़ा-सा आलस्य भर आये!'

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। १४)

जुगल बन्धु बन भ्रमन में, राम श्रमित कछु गात।
पग चाँपत करुना-अयन, कोमल कर-जलजात॥

इस बार अग्रजके नेत्र अर्द्धनिमीलित अवश्य हो गये—तन्द्रासे नहीं, स्नेहकी बाढ़से। किंतु रह-रहकर वे पूर्वकी भाँति ही आँखें खोलकर अब भी अनुजको देखने लग जाते हैं। इसी समय सहसा श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उत्फुल्ल होकर मधुमय कण्ठसे कह उठते हैं—'बस-बस, दादा! अब उपाय ध्यानमें आ गया, तुम निश्चय ही सुख-निद्रामें सो जाओगे!'—अविलम्ब व्रजेन्द्रनन्दनने अपनी मुरली कटिसे निकालकर होठोंपर रख ली और उसमें स्वर भरना आरम्भ किया। दूसरे ही क्षण श्रीबलरामके नेत्रकमल मुकुलित हो गये। इसके अतिरिक्त एक साथ ही ध्वनि प्रसरित होने लगी वनस्थलीके सब अंशोंमें। और फिर इसके महादिव्योन्मादमय प्रभावको कोई सह ले सके, यह सम्भव ही कहाँ है। चर-अचर—सभी वनवासी विमोहित होने लगते हैं। सबके कर्णपुटोंके पथसे हृत्तलमें एक अनिर्वचनीय सुधाकल्लोलिनी उमड़ी आ रही है तथा दृगञ्चल भर रहा है उस मुरलीवालेकी महामरकत श्यामल छबिसे। और तो क्या, स्वयं मुरलीमनोहर वृन्दारण्यविहारी भी अग्रजके निकट विराजित रहकर, आनन्दविवश हुए झूम रहे हैं—

मुख मुरली सुर साधियौ तहँ रूप उज्यारे।
सुनि मोहे बन जीव, जे सुर श्रवननि धारे॥
मगन महा मन मोद में ब्रज-बिपिन-बिहारी।
खग मृग पसु सब मोहियौ प्रभु-छबिहि निहारी॥

तरु-शाखाएँ परस्पर जुड़कर हरित पत्रोंका सुन्दर वितान निर्माण किये रहतीं और उसके नीचे गोपशिशुओंका मधुर नृत्य, रसमय संगीतप्रवाह चलता रहता। अरण्यकी इस रङ्गभूमिके नेता, प्रधान नट, प्रमुख गायक तो हैं नीलसुन्दर; किंतु उनकी तो प्रेरणामात्र होती, मङ्गलाचरणभर वे कर देते, नीलाक्त-सी हुई अपनी अरुण अञ्जलिमें पूरित सुन्दर अतिशय सुरभित लघु-लघु वन्य कुसुमोंको वहाँ वे बिखेर देते और फिर तत्क्षण ही असंख्य गोपशिशुओंका 'बन्ध' नृत्य आरम्भ हो जाता। आकाशपथमें अवस्थित विद्याधरियाँ, विद्याधर पल्लवजालके छिद्रोंसे यह देखते और अनुभव करते—'इन शिशुओंके अङ्गोंसे व्यक्त हुई कलाकी तुलनामें व्यर्थ है हमारा 'चालक' 'चारी' आदि नृत्य-सम्बन्धी विषयोंका ज्ञान! नृत्यज्ञ होनेका मिथ्या अभिमानमात्र हममें है, वस्तु तो एकमात्र सीमित है व्रजेन्द्रनन्दनके इन लीलापरिकरोंमें ही!' और लीक यही स्थिति होती गन्धर्व-वनिताओंकी, गन्धर्वोंकी—जब वे शिशु उल्लासमें भरकर राग-रागिनियोंके विभिन्न स्वर अलापने लगते, परस्पर संगीतप्रतियोगिता चल पड़ती उनमें। वे शिशु राग-रागिनियोंका नाम-निर्देश भले न कर सकें; पर यह तो सर्वथा स्पष्ट हो जा रहा है, मानो रागकर्त्री भगवती शैलेन्द्रनन्दिनीके रागसृजनका समस्त कौशल मूर्त है केवल यहाँ, इन गोपशिशुओंके मधुमय कण्ठकी ओटमें। जो हो, क्या दशा होती उन विद्याधर-गन्धर्व-समुदायकी—यदि यह नृत्योत्सव, संगीतोत्सव पर्याप्त देरतक चलता रहे! किंतु वे सब आखिर शिशु ही तो ठहरे, इनके भावपरिवर्तनमें विलम्ब नहीं होता। किन्हीं अपेक्षाकृत अल्पवयस्क शिशुओंने नृत्य-संगीतसे विरत होकर एक विचित्र-सी गतिभङ्गीका प्रकाश करते हुए ताल ठोक ली। फिर तो लो—देखो, वही रङ्गशाला मल्लशालाके रूपमें परिणत हो गयी, शिशुओंकी अगणित सुन्दर जोड़ियाँ मल्लयुद्धमें तन्मय होने लगीं—ठीक ऐसे मानो क्षणभर पूर्व शृङ्गारमयी कल्लोलिनीकी श्रुतिमनोहर 'कल-कल' धारा ही अब पावसके सम्मेलनसे गरज उठी हो, वहाँ उसी स्थानपर अब रौद्ररसका उद्दाम प्रवाह बह रहा हो! और वे नटराज, दलपति, इस शिशुमण्डलके कोटिप्राणप्रिय नायक श्रीकृष्णचन्द्र कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं? वे तो रङ्गशालामें वह प्रारम्भिक कृत्य कर लेनेके अनन्तर—अपने प्राणसखाओंके नर्तनकी सूचना देकर, प्रसूनोंका आस्तरण आस्तृतकर* अग्रज श्रीबलरामके समीप जा पहुँचे; और उनके करपल्लवको अपने नलिन-सुन्दर हस्तमें लिये तबसे खड़े ही हैं। उज्ज्वल हास्यसे रञ्जित हैं अग्रज एवं अनुजके वदनारविन्द और रह-रहकर गूँज रहा है उनके श्रीमुखसे निस्सृत प्रत्येक सखाके लिये पृथक्-पृथक् एवं सामूहिक साधुवाद! इससे पूर्व अभी-अभी तो नीलसुन्दरने अपने इन प्राणबन्धुओंके मुखसे शत-सहस्र प्रशंसावाक्य अपने लिये सुने हैं। इसका यत्किञ्चित् भी प्रतिदान वे दे सकें, यह लालसा उनके अन्तस्तलमें कितनी प्रबल रहती है, इसे कौन बताये और यह तो सुन्दर अवसर है। इसीलिये अतिशय उमंगमें भरकर राम-श्याम दोनों भाई पुकार रहे हैं परिहासगर्भित स्वरमें ही, किंतु नित्य सत्य तथ्यकी घोषणा करते हुए उत्साहित कर रहे हैं वे अपने क्रीड़ापरायण प्राणसहचरोंको—'अहा हा! देखो, गन्धर्वगणोंका मान गया, ले लिया इनके संगीतने! ओह! विद्याधरो! उपहासके पात्र बन गये तुम इनके नृत्यके सामने! अरे मेरे त्रिलोकविजयी सखाओ! युद्धमें कौन ठहरेगा तुम्हारे समक्ष?'—

* नृत्यकी शास्त्रीय प्रथा यह है कि नर्तक या नर्तकी अपने नृत्यसे पूर्व नृत्यस्थलमें सुगन्धित वस्तु बिखेर दे।

अहो इमे गानेन गन्धर्वगणतिरस्कारिणो नृत्येन विद्याधरगणविडम्बका युद्धेन त्रिलोकीजित्वराः॥

(वैष्णवतोषिणी)

इस प्रकार व्रजेन्द्रनन्दनके लीलाविहारका कभी यह उपर्युक्त कार्यक्रम होता और वे आनन्दसे फूले न समाते—

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १५)

'किंतु भैयाओ! मल्ल-क्रीड़ाका आनन्द तो अधूरा ही रहा रे! यदि कन्नू अखाड़ेमें न उतरा तो फिर इस दाँव-पेचसे क्या लाभ! कन्नू आये, दाऊ दादा भी आ जायँ, तब देख.....।'—उन शिशुओंके प्राण एक तारमें बँधे होते हैं। कहीं स्पन्दनमात्र होनेकी देर है, सर्वत्र एक-सी झंकृति परिव्याप्त होगी ही। अबतक तो नृत्य करते समय तालोंकी प्रत्येक संधिपर नीलसुन्दरके नूपुर भी 'झुन्' से बज ही उठते, प्रत्येक शिशुके कण्ठकी संगीतस्वरलहरीको मानो आत्मसात् कर लेनेके उद्देश्यसे मुरलिका रह-रहकर श्रीकृष्णचन्द्रके अधरोंसे क्षणभरके लिये जा लगती, प्राणमन्थनकारी वह चिर-परिचित रव छिद्रोंसे बिखर जाता तथा इसीलिये प्रत्येक शिशुका ही अनुभव था—केवल मौखिक ही नहीं, उनके कन्हैया-भैयाका क्रियात्मक सहयोग भी उनके इस नृत्यमें, संगीतमें है ही। पर मल्लयुद्धके समय तो वे दर्शकमात्र-से बने दूर पृथक् खड़े प्रतीत हो रहे हैं। उन्हें अपने बीचमें लिये बिना आनन्द कहाँ। अतएव वह स्फुरणा स्यन्दित हो उठी और फिर तो तुरंत एकने नीलसुन्दरको खींच ही लिया। दूसरेने दाऊ दादाके हाथ पकड़ लिये, उन्हें चुनौती दे दी। श्रीबलराम तो तत्क्षण भिड़ गये, पर अनुजने देर लगायी। हँस-हँसकर वे अपनी सुन्दर काली घुँघराली बिखरी अलकोंको समेटने लगे, समेटकर पीछेकी ओर बाँध लिया। पीताम्बरके उत्तरीयको फेंटमें कसा। अधोवस्त्रको दोनों जानुओंसे ऊपर उठाकर बाँधा। इतना करके तब प्रतिद्वन्द्वी शिशुको लक्ष्यकर वे पैंतरा बदलने लगे। ओह! किसकी सामर्थ्य है जो इस समय उनके अधिकांश अनावृत श्यामल चञ्चल श्रीअङ्गोंकी शोभाको शब्दोंमें चित्रित कर दे सके! जो हो, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका यह मल्लयुद्ध आरम्भ हुआ—सो भी एकके साथ नहीं, अगणित—असंख्य सखाओंके साथ। प्राकृत मन तो इसका समाधान करनेसे रहा। पर घटना घटित हुई ठीक ऐसी ही। सभी शिशुओंका यह सत्य अनुभव है—'मेरा प्राणप्रिय कन्नू पहले मुझसे भिड़ा है अथवा एकसे भिड़कर, उससे पछाड़ा जाकर लाज छिपानेके लिये मुझे पछाड़ने आया है या उसे 'चित' करके गर्वमें भरकर मुझपर भी विजय करने आया है।' और अपनी दृष्टिमें नीलसुन्दरसे कम बल उसमें थोड़े है। तनिक भी संकोच उसे नहीं है कन्हैयाकी चुनौती स्वीकार करनेमें। 'अच्छा, आ जा!'—कहकर वह लिपट ही जाता है; मत्त गयंदको भी वह एवं नीलसुन्दर दोनों मिलकर मात कर देते हैं—

कबहुँ मल्लजुद्ध मिलि खेलन। मद-गज ज्यों डोलत, पग पेलत॥

अस्तु, इनमें स्तोककृष्ण एवं उसके समवयस्क कुछ शिशु ऐसे अवश्य हैं, जिन्हें मल्लक्रीड़ा नहीं रुचती। इस खेलका प्रस्ताव आते ही वे सब तो अनुत्साहमें भर जाते हैं। उन्हें लगता है कि यह खेल तो उनके कन्हैया भैयाके सुकोमलतम श्रीअङ्गोंके प्रति भयानक अत्याचार है। पर वे सब करें तो क्या करें; इनी-गिनी संख्याकी सम्मति बृहत् समुदायके मतको दबा नहीं पाती। नीलसुन्दरको ये सब कितनी बार संकेत करते हैं कि वे स्वयं ही इस प्रस्तावको अस्वीकार कर दें। पर वे भी नहीं मानते, उनसे रहा नहीं जाता। विवश होकर वे कतिपय शिशु सकरुण दृष्टिसे अपने प्राणाधार कन्हैयाकी ओर तथा खीझभरे नेत्रोंसे इस उद्धत शिशुसमाजकी ओर देखते रहते। आज भी—जिस क्षण व्रजेन्द्रनन्दन अपनी चूर्णकुन्तलराशि सहेजने लगे थे, परिधान कसने लगे

थे—कितनी बार स्तोककृष्णने इङ्गित किया कि वे पूर्ववत् दूर अवस्थित रहें; पर नीलसुन्दर हँसकर, सलोने दृगोंको नचाकर, अपना वक्षःस्थल छूकर एक ही संकेत कर देते—'तू देख सही, अभी-अभी सबको पछाड़े देता हूँ।' अब मौन रहनेके अतिरिक्त स्तोक कर ही क्या सकता था। मुँह फुलाये-सा होकर वह एक किनारे खड़ा देखने लगा। किंतु धैर्यकी भी एक सीमा होती है—विशेषतः उसके लिये, जिसके प्राण 'तत्सुखसुखित्वम्' की रसमयी भावनासे निरन्तर भावित रहकर श्रीकृष्णचन्द्रमें ही समाये रहते हैं। इस भावकी घनताका तारतम्य ही धैर्यके सीमा-निर्धारणमें हेतु बनता है। और यह तो स्पष्ट है कि दास्य-रसकी अपेक्षा सख्यके प्रवाहमें अधिक घनता है ही। सख्यसे अधिक वात्सल्यमें, वात्सल्यसे अत्यधिक मधुर-रसकी धारामें सान्द्रता विद्यमान रहेगी। इनमें भी प्रत्येक धारासे ही अपने स्वभावके अनुरूप ही स्रोत फूट निकलते हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक रसकी धारा सर्वत्र समान रूपसे ही परिलक्षित हो। आलम्बनके अनुरूप ही यह ऋजु या वक्र प्रसारित होगी, धाराकी सान्द्रता भी आलम्बनके अनुरूप ही विकसित होगी। तथा यह नियम है—जहाँ सान्द्रताकी मात्रा जितनी अधिक है, धैर्यकी सीमा वहाँ उतनी ही अधिक संकुचित रहेगी। इस स्तोकमें सख्य-रसकी कोमलतम परिणतिकी नित्य प्रतिष्ठा है। अतएव सान्द्रताका अपेक्षाकृत अधिक विकास इसमें अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त आयुमें वह प्रायः सबसे छोटा है। साथ ही नन्दन-पुत्र* है वह। यह पारिवारिक सम्बन्ध भी उसके अपनत्वके सूत्रको मृदुल बना देता है। भला, उसके प्राण कबतक सहें अपने कन्हैया भैयापर प्रतिद्वन्द्वी शिशुके द्वारा बारम्बार होनेवाले मल्लयुद्धके इस आघातको। इसलिये आखिर वह गरज ही उठा—'अरे ओ सुबल भैया! दाऊ दादा! इन उद्दण्डोंको तो छोड़ो, इन्हें तो लाज नहीं रही। क्या तुम्हें भी नहीं दीखता—ओह रे, क्या दशा कर दी इन सबोंने मेरे कन्हैया भैयाकी!'

श्रीकृष्णचन्द्रके अतिशय प्रिय पात्र, देखनेमें उनकी ही प्रतिमूर्ति स्तोककी यह गर्जना एक साथ सबके कर्णकुहरोंमें निनादित हो उठी, सबका ध्यान उस ओर चला ही गया और फिर—'ओह! सचमुच भैया रे कन्नू! तू तो बहुत ही थक गया रे!'—इस प्रेमपूरित विचित्र-सी ग्लानिके प्रवाहमें एक साथ सब-के-सब बह गये। मल्लक्रीड़ा जहाँ-की-तहाँ, ज्यों-की-त्यों स्थगित हो गयी। वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रके केश पुनः बिखरकर अस्त-व्यस्त हो चुके थे। सम्पूर्ण श्यामल कलेवर घर्माक्त हो चुका था। श्रान्तिजन्य श्वास-प्रश्वासकी गति पर्याप्त तीव्र है, यह किसीसे छिपा न रहा। अब तो समस्त शिशुओंके प्राण तड़फड़-तड़फड़ कर उठे—'कैसे एक क्षणमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी यह सम्पूर्ण श्रान्ति हर ली जाय!' इस समय विलम्बका तनिक भी अवकाश नहीं है। मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धनने नीलसुन्दरकी भुजाएँ पकड़ लीं और चल पड़े उसे लेकर समीपवर्ती अश्वत्थकी सघन शीतल छायामें। गोभट, कुलवीर आदि सुहृद्वर्गके सखा उनके पीछे चले। श्रीकृष्णचन्द्र तो एक हैं, पर साथ ही यह नितान्त ध्रुव सत्य है—वह देखो, विशाल, वृषभ, जम्बी, देवप्रस्थ भी उन्हें दूसरी ओर उस वटके नीचे ले आये। वरूथप, मन्दार, कुसुमापीड़, मणिबन्ध आदि शिशुओंने उस अन्य तरुवरका आश्रय लिया और उनके साथ भी वास्तवमें एक श्रीकृष्णचन्द्र हैं। चन्दन, कुन्द, कलिन्द आदि उस कदम्बश्रेणीकी ओर अग्रसर हो रहे हैं और वे भी एक श्रीकृष्णचन्द्रको चारों ओरसे घेरे हुए ही चल रहे हैं। इसी प्रकार दाम, वसुदाम, श्रीदामका दल, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन आदिकी मण्डली, सुबल, अर्जुन, गन्धर्व,

* महाराज नन्दके सबसे छोटे भाई नन्दनजीका लड़का।

वसन्तकी गोष्ठी—सभी जा रहे हैं अपने साथ एक-एक श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर—कोई उस अशोककी छायामें, कोई आम्रके उस सुन्दर-से आलवाल (गड्ढे)-के समीप, कोई उस प्लक्षतरुके बृहत् आटोपके नीचे। असंख्य शिशुओंकी उस प्रेमार्तिने एक ही व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रको इतने रूपोंमें प्रकाशित कर दिया। अवश्य ही सबको यही अनुभव है—श्रीकृष्णचन्द्र हमारे ही साथ चल रहे हैं। अस्तु, विश्राम करानेकी पद्धति तो सबको ज्ञात है ही। स्वयं नीलसुन्दरने ही तो अग्रजकी परिचर्या करके शिक्षा दे रखी है। उसीका अनुसरण सबने किया, पर इस बार कुछ और भी विशेष आयोजनके साथ। क्षणोंमें ही राशि-राशि वृन्तहीन पुष्पदल, सुकोमल नवपल्लवकी पंखुड़ियाँ सबने एकत्र कर लीं। उस उत्तुङ्ग तरुवरके मूल देशमें उन्हीं पल्लवाग्र एवं पुष्पदलोंसे अतिशय सुन्दर सुखद शय्याका निर्माण हुआ और फिर उस शय्यापर श्रीकृष्णचन्द्र अपने किसी प्रिय सखाके अङ्कमें सिर रखकर लेट गये। पुष्पोंका ही सुन्दर-सा उपधान (तकिया) भी सखाओंने प्रस्तुत अवश्य किया था। किंतु नीलसुन्दरको उसकी अपेक्षा अपने प्राणसखाकी गोदमें अधिक सुखकी अनुभूति हुई, उसपर ही अपना मस्तक स्थापितकर उन्होंने नेत्र निमीलित कर लिये—

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १६)

श्रमित होत आवत तरु तरे।
किसलय सयन सुपेसल करे॥
कबहुँ बनावत दलन की, तल्प मूल तरु जाइ।
गोप गोद उपबरह करि, सोवत त्रिभुवनराइ॥

एक ही समय एक ही श्रीकृष्णचन्द्र अगणित स्थानोंमें समान भावसे सखानिर्मित पुष्प-पल्लव-तल्पपर विश्राम कर रहे हैं, सबका मनोरथ एक साथ पूर्ण हो रहा है, सबकी प्रीतिका उपहार अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र एक साथ ही स्वीकार कर ले रहे हैं। सखाओंके प्रेमानुबन्धने ही उनके बाल्यावेशके दुकूलको किञ्चित् आकर्षित-सा कर लिया है, जिससे उनके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यपर विराजित वह स्वेच्छामय आवरण मानो किसी अंशमें तनिक हट-सा गया है। और इसीलिये महामहेश्वर व्रजेन्द्रनन्दन अगणित आत्मप्रकाशके द्वारा यह विश्रामकी लीला सम्पादन कर रहे हैं। अवश्य ही किसी भी शिशुको यह किञ्चिन्मात्र भी भान नहीं है कि यहाँ कोई ऐसी आश्चर्यमयी घटना घटित हो रही है। यह भान हो जाय, फिर तो आनन्द ही जाता रहे। एक साथ उन सबको समान आनन्ददान करनेके लिये ही नीलसुन्दरकी यह अभिनव योजना बनी है। अतः—'मैंने जिस पुष्पशय्याकी रचना की, उसीपर मेरा प्राणप्यारा कन्हू विश्राम कर रहा है'—शिशुके प्राणोंका यह अनिर्वचनीय सुख ही समाप्त हो जाय—यदि उसका मन कहीं किसी अंशमें स्पर्श कर ले श्रीकृष्णचन्द्रके इस ऐश्वर्य-वैभवको। इसीलिये वे शिशु तो जान नहीं सके, कदापि जान पायेंगे भी नहीं। पर सत्य तो यह है ही कि एक ही व्रजेशपुत्र एक ही समयमें अगणित वृक्षमूलोंके नीचे शिशुओंद्वारा आस्तृत पुष्पशय्यापर सो रहे हैं—

तेषां प्रीत्यै तत्तदलक्षितस्तत्तत्प्रेमोद्बोधितेन निजशक्तिविशेषेण बहुरूपतयैव शेत इति।

(वैष्णवतोषिणी)

×××तेषां सर्वेषामेव युगपत् सौख्यसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव तल्पेषु भगवान् शयानो जातः।

(सुबोधिनी)

अस्तु, अब अपरिच्छिन्न-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रकी चरण-सेवा आरम्भ हुई। गोप-बालकोंने अतिशय लाड़से उनके चरण-सरोजोंको अपने क्रोड़में धारण कर लिया तथा अपनी कोमल अङ्गुलियोंसे स्पर्श करके मन्द-मन्द—अत्यन्त सुखद भावसे दबाकर उनका श्रम हरने लगे। कुछ शिशु नवपल्लव-पुष्प-

रचित आर्द्रव्यजन लेकर उनके नीलसरोरुह-से विकसित मुखपर, इन्द्रनीलद्युति श्रीअङ्गोंपर शीतल-मन्द-सुगन्ध बयार करनेकी सेवामें लगे। कुछ उनके पार्श्वदेशमें बैठकर बाहुयुद्धके अनन्तर की जानेवाली प्रणालीसे उनके स्कन्धोंका, भुजाओंका, करपल्लवोंका, कटिदेशका यथायोग्य मधुर रुचिकर सम्मर्दन करके सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षणमें ही मिटा देनेके प्रयासमें संलग्न हुए। उन बालकोंके शारदीय शुभ्र आकाश-जैसे निराविल मानसतलमें बस, इस समय एक ही वासना है—'कौन-सी सेवा हो, जिससे मेरा प्राण-प्यारा कन्हैया अविलम्ब विगतश्रम हो जाय।' कौन उन्हें समझाये—'शिशुओ! तुम्हारे इन कन्हैयाके इस सच्चिदानन्दमय शरीरमें श्रान्ति, व्यथा, आमयके लिये तनिक भी कहीं त्रिकालमें भी अवकाश नहीं। प्रकृति एवं कालसे परेकी वस्तु है यह देह और तुम भी ऐसे ही हो, तुम्हारी देह भी ऐसी ही है।' तथा सुन लेनेपर भी, अनादि कालसे नित्य 'हतपाप्मा'—सर्वथा पापशून्य होनेपर भी ये कहाँ हृदयङ्गम करनेवाले हैं इस सत्यको। इनके समान निर्मल कौन है? अनादि कालसे इनके मानसतलमें स्वसुखवासनाका कलुष—पापबीज कदापि अङ्कुरित होता ही नहीं। फिर भी—इतने, ऐसे नित्य अमल होनेपर भी अपने कन्हैया भैयाके देहतत्त्वको ये ग्रहण नहीं करेंगे, नहीं कर सकते। क्यों नहीं कर सकते? इसीलिये कि इनका अनादि एवं अन्तविहीन अस्तित्व ही है इसे लेकर—'मेरा प्राणप्यारा कन्हैया मुझसे सुखी हो।' वैसी सच्चिदानन्दमयताकी स्फूर्ति होते ही इस रस-निर्यासका द्वार ही रुद्ध जो हो जायगा, मनोरथ अपूर्ण रह जायँगे इनके, साथ ही लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके भी—जो आये ही हैं, नहीं-नहीं, जो अनादिकालसे ही अवस्थित हैं, अनन्तकालतक अवस्थित रहेंगे अपने इस स्वरूपभूत नित्यलीला-रससुधाको निरन्तर अतृप्त-भावसे पीते रहनेके लिये। तथा यही कारण है कि परब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र इनके समक्ष तो इनकी सेवा-भावनाके अनुरूप स्वरूपसे ही नित्य विराजित रहते हैं एवं इनकी श्रीकृष्णसेवामें भी कभी कोई प्रतिबन्धक नहीं, सदा इनके प्राणोंकी लालसाके अनुरूप ही इनकी सेवा निर्बाध चलती रहती है। इस समय भी चल रही है अपने प्राणसखाके श्रमापनोदनकी सेवा—

पादसंवाहनं चक्रुः केचित् तस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १७)

पौढ़त सखा सथन सिर नाइ।
कोइ बड़भाग पलोटत पाइ॥
कोइ कोमल पद लै कर मींजत।
कोइ लै कुसम-बीजना बीजत॥
× × ×
भूरि पुन्यकृत कोउ जन भूषा।
करत पवन तेहि सुख अनुरूपा॥

आश्चर्य है—इतने शान्त वातावरणका निर्माण ये अतिशय चञ्चल गोपशिशु भी कर सकते हैं! वन्य-विहंगमोंके रवके अतिरिक्त कहीं कोई भी शब्द नहीं; क्योंकि तनिक-सा बोलते ही उनके कन्हैया भैया सो जो नहीं पायेंगे—यह प्रेमजनित भय सबके मनमें भरा है। अद्भुत नीरवताके बीच सभी सेवाएँ सम्पन्न हो रही हैं। किसी शिशुके चलनेसे शुष्क पत्रोंकी 'मर्मर' ध्वनि भी न हो—इतनी सावधानी रखी जा रही है। किंतु यह लो, श्रीकृष्णचन्द्रने तो आँखें खोल लीं और वे हँसने लगे। पूछनेपर यह कह दिया—'भैयाओ! क्या करूँ, नींद आयी नहीं तो कितनी देर नेत्र बंद रखूँ, तुम्हीं बताओ!' सचमुच नीलसुन्दर सो ही कैसे सकते थे। अग्रज बलरामकी जैसे-जैसे जो-जो परिचर्याएँ उन्होंने की हैं, वैसी-की-वैसी सब विधियाँ हुए बिना ही यदि वे तन्द्रित हो जायँ, तब तो अचिन्त्यलीलामहाशक्तिके हृत्पटपर अङ्कित शिशुओंके मनोभावके चित्रोंका कोई मूल्य ही नहीं रहे। स्पष्ट तो है—शिशुओंने निर्निमेष नेत्रोंसे देखा है, किस प्रकार कन्हैया भैयाने दाऊ दादाको विश्राम कराया।

तथा तत्क्षण उसमें वासना जाग उठी थी—'हम भी कन्हैयाकी ऐसी ही सेवा करेंगे।' फिर कन्हैया कैसे भूल जायँ उनकी प्रेमसेवा स्वीकार करनेकी बात। और कदाचित् बाल्यावेशके प्रवाहमें वे भूले ही रहें, तो भी क्या हुआ; अचिन्त्यलीलामहाशक्ति नहीं ही भूलेंगी। समयपर अपने-आप वैसा सब कुछ हो ही जायगा, हुआ ही। शिशु व्यग्र होकर विचार करने लगे। किंतु नीलसुन्दरकी भाँति वंशीमें लोकोत्तर स्वर भरना तो उन्हें आता नहीं। आजसे बहुत पूर्व—जिस दिन अघासुरके संसरणका अन्त हुआ था—यह निर्णय हो चुका है—'देखो, जब कन्हूकी वंशी बजे, तब हममेंसे कोई भी उस समय उसका अनुकरण न करे। अन्यथा हम सभी इस परम सुखके पूर्ण उपभोगसे वञ्चित रह जायँगे। और बातोंमें कन्हूको हरायें, वह तो हारेगा ही; पर वंशीवादनमें उसकी होड़ करने न जायँ।' फिर अपने कन्हूको वे कैसे किस उपायसे सुलायें? 'इसने दाऊ दादाको तो मुरलीके स्वरसे ही सुलाया था!'—सरल स्नेहार्द्रचित्त हुए शिशुओंकी इस चिन्ताका पार नहीं। आखिर सोचते-सोचते उपाय ध्यानमें आ ही गया—'वंशी न सही, हम गीत गाकर ही कन्हूको सुला देंगे!' तथा यह विचार उदय होते-न-होते उन बालकोंके कण्ठसे पीयूषकी वर्षा-सी आरम्भ हुई। अपनी भावनाके गीत, व्रजसुन्दरियोंके मुखसे सुने हुए श्रीकृष्ण-सुयशके गान, व्रजराजके वन्दीजन-चारण-नटोंसे सुनी हुई गीति-रचनाएँ—इनमें जहाँ जिसका मन डूबा, उसीको वह अतिशय मनोहर मन्द मधुर प्रेमार्द्र स्वरमें गाने लग गया—

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। १८)

कोइ अति मधुर-मधुर सुर गावत।
साँवरे कुँवरहि नींद अनावत॥

शिशुओंके नेत्र समाये हुए हैं श्रीकृष्णचन्द्रके अर्द्धनिमीलित नयन सरोरुहमें तथा मानसतल पूरित हो रहा है अपने ही मुखसे बाहर प्रसरित एवं पुनः श्रुतिपथके द्वारा झरती हुई श्रीकृष्णगीतकी मधु-धारासे। साथ ही समस्त वन-प्रान्तरमें— नहीं, नहीं, अतीत-अनागत विश्वके कण-कणमें यह ध्वनि एक अद्भुत सुरधुनीकी धारा-सी बिखेरती जा रही है—जो चाहे, पी-पीकर अपने प्राणोंकी प्यास बुझा ले!—

जय कृष्नचंद्र करुनानिधान।
ब्रजजन पंकज-बन सुखद भान॥
नव-नव जलधर सम अंग स्याम।
लावन्य-धाम छबि कोटि काम॥
सुर अभय दैन भुजदंड-मूल।
दामिनि समान राजत दुकूल॥
मद छके असित सित अरुन नैन।
मृदु हँसन सुधा बरसत सुबैन॥
कुंडल मंडित श्रुति दुति अतोल।
परि छलक गंड सोभित कपोल॥
मुख मुरलि-सुधा बरसत उछंद।
निज जन जीवन, आनंदकंद॥

× × ×

नंदसुत नित्य रस बाललीला मगन
उदधि आनंद गोकुल कलोलैं।
गौर अरु स्याम अभिराम भैया दोऊ
ललित लरिकान लिऐं संग डोलैं॥
भवन-प्रति-भवन चलि चोरहीं दूध-दधि,
रतन-भूषन बदन तन उजैरैं।
खात, लपटात, ढरकात, फिरि हँसि भजत,
चकृत ह्वै भवन निज भवन हेरैं॥
कबहुँ गहि-गहि फिरत पूँछ बछियान की,
किंकिनी कनक कटि मधुर बाजैं।
गोप-गोपीन मन-दृगनि के खिलौना खिलत-मुख,
कमल मोरि मुरि हँसनि भ्राजैं॥
बदन दधि-छींट, छबि, धूरि-धूसरित अंग
अबहिं ते मदन-गति पगनि पेलैं।

कंठ बघना दिऐं पायँ पैंजनि-झनक
दास नागर हिऐं अँगन खेलैं॥
× × ×
मुकट की चटक, लटक बिबि कुंडल की,
भौंह की मटक नैक आँखिन दिखाउ रे।
ए हो बनवारी! बलिहारी जाउँ तेरी,
मेरी गैल कि न आइ नैक गाइन चराउ रे॥
आदिल' सुजान रूप गुन के निधान कान्ह!
बाँसुरी बजाइ तन तपन बुझाउ रे।
नंद के किसोर चितचोर मोर-पंखवारे
बंसीवारे साँवरे पियारे, इत आउ रे॥
× × ×
माथे पै मुकुट देखि, चंद्रिका चटक देखि,
छबि की छटक देखि, रूप-रस पीजियै।
लोचन बिसाल देखि, गरें गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि चित्त चुप कीजियै॥
कुंडल-हलनि देखि, पलक-चलनि देखि,
अलक-बलनि देखि सरबस दीजियै।
पीतांबर-छोर देखि, मुरली की घोर देखि,
साँवरे की ओर देखि, देखिबौई कीजियै॥

यह है श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्यातिदिव्य परम मनोहर अरण्य-विहारका एक अत्यन्त संक्षिप्त प्रतिचित्र। अनन्तैश्वर्यनिकेतन व्रजेन्द्रनन्दनको और विहार करते समय ठीक-ठीक पहचान लेनेकी क्षमता किसमें है? अपनी अघटघटनी योगमायाका आवरण जो है उनके उस ऐश्वर्यमय स्वरूपपर। लीला-रस-पान करने जो आये हैं वे! इसीलिये सर्वथा प्राकृत गोपशिशुकी भाँति बनकर ही लीला कर रहे हैं। यद्यपि वैकुण्ठधाममें रमा उनके चरणसरोजोंकी परिचर्यामें नित्य संलग्न हैं, असमोर्ध्व ऐश्वर्य उनका नित्य सहचर है, फिर भी—जिस प्रकार प्राकृत शिशु अपने बन्धुगणोंके साथ अनेकों खेल खेले, खेलता ही रहे, वैसे ही—वे श्रीकृष्णचन्द्र अपने इन सखाओंके साथ विविध क्रीड़ाओंमें—बाल्यलीला-विहारमें तन्मय हो रहे हैं। असुरोंको परमगतिका दान वितरण करते समय वह आवरण कहींसे किञ्चित् संकुचित हो जाय, एक छिद्र-सा निर्मित हो जाय एवं उस छिद्रके अन्तरालसे उनका अपरिसीम ऐश्वर्य क्षणभरके लिये झाँक भले ले। अन्यथा नीलसुन्दर तो लीला-रसपानमें ही नित्य मत्त रहते हैं—

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। १९)

एहि बिधि निज माया करि गूढ़ा।
रहे काल, बहु, समुझ न मूढ़ा॥
बिच-बिच भए प्रगट हरि कबहूँ।
दनुज हने जब, तेहि छिन तबहूँ॥
जिमि प्राकृत बालक गुन-सीला।
करत रहे प्रभु ब्रज नित लीला॥
× × ×
बिहरत इहि परकार बिहार।
ज्यौं गाइन सँग ग्वार गँवार॥
जा कहुँ मुनि मन करत बिचार।
निगम अगम पावत नहिं पार॥
लछिमी ललना ललित सु पाइ।
लालति ज्यौं निधनी धन पाइ॥
बड़ी बेर आवत सिव-मन में।
सो प्रभु यौं बिहरत या बन में॥

वनमें गौओंका भटककर कालिय-ह्रद (कालीदह)-के समीप पहुँचना और प्यासी होनेके कारण वहाँका विषैला जल पीकर प्राणशून्य हो गिर पड़ना, गोप-बालकोंका भी उसी प्रकार निश्चेष्ट होकर गिर पड़ना; श्रीकृष्णका वहाँ आकर उन सबको तथा गौओंको करुणापूर्ण दृष्टिमात्रसे पुनर्जीवित कर देना और सबसे गले लगकर एक साथ मिलना

काननके उस भूभागपर हरित मृदुल तृणाङ्कुरोंका अम्बार-सा लग रहा था। ग्रीष्मका साम्राज्य होनेपर भी मानो उसकी छायातक उसे छू न सकी हो, इस प्रकार वह तृणराजि लह-लह कर रही थी और वहींपर श्रीकृष्णचन्द्र अपने गोपसखाओंके साथ गोसंचारण कर रहे थे। साथ ही उनकी परम मनोहारिणी क्रीड़ाएँ भी चल रही थीं। उनके श्यामल सुन्दर श्रीअङ्गोंसे एवं शिशुओंकी प्रेमिल भावभङ्गिमाओंसे आनन्दका स्रोत झर-झर कर वन-प्रान्तरके कण-कणको प्लावित कर रहा था—

चरावत बृंदाबन हरि गाइ॥
सखा लिऐं सँग सुबल-सुदामा, डोलत हैं सुख पाइ।
क्रीड़ा करत जहाँ-तहँ सब मिलि, अति आनंद बढ़ाइ॥

अचानक तृणग्रास मुखमें लिये ही गौएँ बिदक गयीं। वे अबतक तो शान्तभावसे तृण चरती रहकर भी अपने पालक नीलसुन्दरकी ओर सिर उठाकर देख लेती थीं; किंतु हठात् उनकी आँखें इससे भी अधिक सुन्दर एक अन्य तृणसंकुल भूमिखण्डकी ओर बरबस जा लगीं—नहीं-नहीं, आकर्षित कर दी गयीं। अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने निर्धारित योजनाके अनुरूप डोरी खींच ली थी और इसलिये वे उस ओर ही भाग चलीं, बिखर गयीं। पर उस ओर तो सघन वन है, उनको उस ओरसे नियन्त्रित कर लेना नितान्त आवश्यक है। अतएव नीलसुन्दरकी क्रीड़ा भी स्थगित हो गयी और गोपशिशु भी गायोंको लौटा लेनेके उद्देश्यसे उस ओर ही दौड़ चले—

बगरि गईं गैयाँ बन-बीथिनि, देखीं अति बहुताइ।
कोउ गए ग्वाल गाइ बन घेरन, कोउ गए बछरु लिवाइ॥

श्रीकृष्णचन्द्र हँस रहे हैं। उनके नेत्रसरोजोंमें उत्सुकता भी है। वे रह-रहकर पुकार भी उठते हैं—'अरे भैयाओ! भागते क्यों हो? धीरे चलकर ही उन्हें घेर क्यों न लेते!' किंतु वे शिशु तो सुननेसे रहे। इधर उन्हें एक साथ दौड़ते देखकर गौएँ और भी वेगसे भागीं। देखते-ही-देखते वह गोराशि तथा वे शिशु—दोनों ही लता, द्रुम, वल्लरियोंकी ओटमें हो गये। यहाँ बच गये एकाकी नीलसुन्दर। बायें हस्तकमलमें एक वन्य विटपकी डाल धारण किये हुए तथा दाहिनी मुट्ठीको अरुणिम अधरोंसे सटाकर दक्षिण तर्जनी उठाये वे उस ओर ही कुछ संकेत-सा कर रहे हैं। क्या पता वे वनमाली किस धुनमें हैं। क्योंकि सदाकी भाँति सखाओंका अनुसरण उन्होंने आज नहीं किया। प्रत्युत कुछ विलम्ब हो जानेपर समीपमें ही कलिन्दनन्दिनीके तटपर स्थित उस विशाल वटकी छायामें वे जा विराजे हैं। शिशुओंके अबतक न आनेका कारण सोच रहे हैं—

बंसीबट, सीतल जमुना तट अतिहिं परम सुखदाइ।
सूर स्याम तहँ बैठि बिचारत, सखा कहाँ बिरमाइ॥

'अरे! कितनी देर लगा दी उन सबोंने!'—चिन्ताहरण विश्वनियन्ता प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रको अब अपने सखाओंके लिये चिन्ता होने लग गयी; क्योंकि

क्षण-क्षण करते ही वहाँ आये भी उन्हें प्राय: दो दण्ड हो चुके। सखाओंके अभावमें उनका चित्त वहाँ लग न सका। अन्यमनस्क-से हुए वे भी उस ओर ही चल पड़े। उनकी चिन्ताका पार नहीं—

बार-बार हरि कहत मनहिं मन, अबहिं रहे सँग चारत धेनु।
ग्वाल-बाल कोउ कहूँ न देखौं, टेरत, नावँ लेत, दै सैनु॥
आलस-गात जात मन मोहन, सोच करत, तनु नाहिंन चैनु।
अकनि रहत कहुँ, सुनत नहीं कछु, नहिं गो-रंभन बालक-बैनु॥

इधर गायें तो सघन वनकी सीमाके उस पार जा पहुँची थीं तथा इतनी दूर बड़े वेगसे दौड़कर तृषित हो चुकी थीं। यही हाल उनके पालकवर्ग गोप-शिशुओंका था। ऊपर निदाघके सूर्य तप रहे थे। वनस्थलीके इस भागमें वृक्षोंकी शीतल छाया भी समाप्त हो चुकी थी। उन्मुक्त गगन था और नीचेकी धरती वहाँ— बस, सम्पूर्ण वृन्दावनमें एकमात्र उस देश-विशेषमें ही— हरितिमाशून्य-सी हो रही थी। अत्यन्त निकटमें ही तपनतनयाके सुन्दर मञ्जुल प्रवाहके दर्शन अवश्य हो रहे थे। पर वहाँ तटपर भी केवल एक कदम्बतरुके अतिरिक्त किसी भी वृक्षका चिह्नतक न था। आश्चर्य है, वहाँ तृण, वीरुध, उगतक नहीं सके थे। बस, केवल रविनन्दिनी श्रीयमुनाकी लहरें ही वहाँ एकमात्र आकर्षणकी वस्तु थीं। विशेषत: तृषित गायें उन्हें देख लेनेके अनन्तर, इस मध्याह्नके समय वहाँ जाकर जलपानके द्वारा अपनी तृषा शान्त करनेका लोभ संवरण कर सकें— यह कैसे सम्भव था। इसीलिये स्वाभाविक ही गायें उस ओर ही मुड़ीं और पालक तो उनके पीछे चलेंगे ही। इस प्रकार सभी उस निर्वृक्ष तटपर ही जा पहुँचे; व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य-लीला-महाशक्ति उन्हें वहाँ उस प्रसिद्ध कालिय-ह्रदपर ले आयीं, जहाँ नीलसुन्दरकी कालियदमन-लीलाका प्रकाश होगा—

सिसु-सुरभीं तिहि बेर, त्रषावंत जल के भए।
कालीदह कहँ हेरि चले, सीघ्र पहुँचे तहाँ॥

अस्तु, ग्रीष्मतापसे व्यथित वे गायें आते ही उस जल-प्रवाहमें मुँह डालकर प्यास शान्त करने लगीं। श्रीयमुनाकी उस अमृततिरस्कारिणी धाराका ही वे सदा पान करती आयी हैं, इस धाराने सदा ही उनके प्राणोंमें शीतलताका संचार किया है; इसलिये ही नित्यके अभ्यासवश सबने जल पीना आरम्भ किया। किंतु आज वह चिरपरिचित तृप्ति उन्हें न मिली— तृप्ति दूर, वारिस्पर्शमात्रसे कण्ठमें कुछ बूँदें उतरनेभरसे उनके प्राण झुलसने लगे। वे पशु इस बातको नहीं जानते कि यहाँ— तपनतनयाके इस ह्रदमें ही कालिय नागका निवास है, उसके सम्पर्कसे इस ह्रदका प्रत्येक जलकण विषपूर्ण हो चुका है; उन्हें इसका जलपान तो क्या, इसकी सीमामें भी प्रविष्ट नहीं होना चाहिये था। और इस ज्ञानके अभावमें ही स्वभाववश वे इस सद्य: प्राणहारक जलको स्पर्श कर चुके थे, उसका कुछ अंश पी चुके थे। इसीलिये जो परिणाम होना था, वही हुआ। एक ही साथ सबके शरीरोंमें, उनके स्नायुजालके प्रत्येक कणमें आग-सी जल उठी और देखते-ही-देखते वे सब-की-सब गायें वहीं— उस तटपर ही प्राणशून्य होकर गिर पड़ीं तथा उनके पालकवर्ग, ओह! लीलाशक्तिकी भी विचित्र महिमा है। उन मूक गो-समूहोंके लिये तो, पशुस्वभाववश उन्होंने जलपान कर लिया, यह हेतु किसी अंशमें समीचीन बन सकता है— किसी अंशकी बात इसीलिये कि सचमुच ही सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलामें उपकरणभूता ये गायें प्राकृत सृजनकी वस्तुएँ नहीं हैं; किंतु वे श्रीदाम, सुबल आदि गोपशिशु तो प्राय: सभी जानते थे कि एक महासर्पका उस ह्रदमें निवास है। वे अपने पिता-पितृव्योंसे सुन चुके थे; वहाँ उस स्थानकी ओर पैर रखनेके लिये सर्वथा निवारित हो चुके थे। फिर भी उनका वह ज्ञान उस समय लुप्त हो गया। हतबुद्धि-से हुए वे भी अतिशय द्रुतवेगसे दौड़कर उन गायोंके पीठ-पीछे आ पहुँचे। इतना ही नहीं, वे आये थे इस उद्देश्यसे कि

शीघ्र-से-शीघ्र इन पशुओंको पीछेकी ओर हाँक लायेंगे, किंतु यहाँ आनेपर वह स्मृति भी किसीने पोंछ दी। उन्हें प्यास तो थी ही, उन सबने भी अपनी अञ्जलि उस प्रवाहमें डाल ही दी, अञ्जलिका किञ्चिन्मात्र जल अपने कण्ठमें भी डाल ही लिया। बस, जैसे इधर गिरीं गायें, वैसे ही, सर्वथा साथ-ही-साथ क्षणभरमें वहीं गिर पड़े, प्राणशून्य हुए वे सब-के-सब गोपशिशु!

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम्॥
विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ४८-४९)

गोप-धेनु रबि-कर लहि तापा।
ग्रीषम-धूप घोर तन ब्यापा॥
तृषित महा ब्याकुल मन तासू।
गरल-बिदूषित जल पिय आसू॥
दैवीहत चित बिष जल जबहीं।
परसत मृतक भए सब तबहीं॥
गिरि गे सकल सखा अरु धेनू।
जमुना तीर तीर सुभ रेनू॥

वास्तवमें तो सृजन-संहारसे परे, आदि-अन्तविहीन नित्य जीवनमें अवस्थित इन भगवत्पार्षदोंके लिये प्राणशून्य होनेकी बात बनती नहीं। यह तो अघटनघटना-पटीयसी योगमायाका ही वैभव है। नीलसुन्दरकी लीलामन्दाकिनीका, उससे निस्सृत प्रतिक्षण नूतन रस-प्रवाहका सौन्दर्य और भी निखर उठे, इस उद्देश्यसे उनके प्राण आच्छादित हो गये हैं। योगमायाके अञ्चलकी छायामें उनके उन चिन्मय प्राणोंका व्यापार अदृश्य बन गया है, स्थगितमात्र हो गया है, और वे उस रूपमें दीख पड़ रहे हैं। यह एक विचित्र-सी मूर्च्छा है उनकी—

व्यसव इति लीलासौष्ठवार्थं योगमायायैव नित्यानामपि तेषामसूनाच्छाद्य तथा दर्शनात्।

(सारार्थदर्शिनी)

जो हो, यहाँ जब इतना हो चुका, तब कहीं श्रीकृष्णचन्द्र सखाओंको ढूँढ़ते हुए सघन वनकी सीमा पारकर इस शुष्क वृक्षशून्य भूभागपर आये और तत्क्षण दूरसे ही उनकी दृष्टि इस करुण दृश्यपर भी जा पहुँची। उस समय व्रजेन्द्रनन्दनकी कैसी दशा हुई—ओह! स्वयं वाग्वादिनीमें भी शक्ति कहाँ है जो इसपर किञ्चिन्मात्र प्रकाश दे सकें। करुणासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दनके अन्तस्तलमें उच्छलित कृपामयी ऊर्मियोंका, किसी एक करुणालहरीके एक कणका भी वास्तविक चित्रण आजतक कहीं किसीके द्वारा भी हुआ जो नहीं। यत्किञ्चित् चित्रण हुआ है, हो सकता है तो केवल उनके बाह्य अनुभावोंको लेकर ही—सो भी उनकी चरणनखचन्द्रिकाका प्रकाश बुद्धिमें, मन-प्राण-इन्द्रियोंमें परिव्याप्त हो जाय और उस आलोकमें उन चिन्मय अनुभावोंके दर्शन हों तब। अतएव किसी भी बड़भागी लीलादर्शीके प्राणोंकी झंकृति भी वाणीद्वारसे इतना ही व्यक्त कर सकती है—एक मुहूर्तके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आये थे और तुरंत दूरसे ही उन्होंने उन सबको प्राणरहित देख भी लिया। विद्युत्-वेगसे घटनास्थलपर भी वे आ पहुँचे। पर हाय! उनकी उस नवनीरदश्यामल मूर्तिपर, आह! सौन्दर्यनिधि उस नील कलेवरपर क्षणभरमें ही, अन्तस्तलकी व्यथाके न जाने कितने शत-सहस्र काले आवरण जो आ गये! हाय रे! उनके श्याम श्रीअङ्गोंपर एक कैसी-सी, पहलेसे सर्वथा भिन्न जातिकी एक विचित्र श्यामता, नहीं-नहीं, व्यथाजन्य म्लानताका पुञ्ज जो बिखर गया। ओह!.....

अथ मुहूर्त्तपूर्त्तावागतोऽयं तोयदश्यामलमूर्त्तिर्मूर्त्तानेव तान् पश्यन्नन्यादृशश्यामलतामाजगाम।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और तब आयी जडिमा। श्रीकृष्णचन्द्र स्तब्ध खड़े हैं और सामने पड़ी हैं सर्वथा स्पन्दनशून्य असंख्य गायें और प्राणप्रिय सखाओंकी देह; किंतु मानो जडिमाके लिये भी श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणोंका

ताप इस समय असह्य बन गया और वह भी मानो भाग निकली। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र चीत्कार कर उठे—

या गावः खलु देवता व्रजसदामस्माकमुच्चैस्तरां
ये बालाश्च सदैव जीवतुलितास्तेऽमी विपन्नाः पुरः।
हा! हन्त! स्वयमस्मि तत्सहचरः किं भ्रातरं मातरं
तातं सर्वजनं च वच्मि मम धिक् चापल्यतः साहसम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'ओह! ये गायें—नहीं-नहीं, निश्चितरूपसे हम व्रजवासियोंके सर्वाधिक आदरणीय देवता! तथा ये हमारे नित्य प्राणतुल्य बालक! आह! कैसी विपन्न दशामें ये सामने पड़े हैं! और मैं स्वयं, हाय रे! इनका सहचर हूँ! अब मैं क्या उत्तर दूँगा दाऊ भैयाको? मैयासे, बाबासे क्या कहूँगा? समस्त पुरवासियोंको क्या बताऊँगा? आह! मैं गोसंचारण करने आज इस पथसे—कालियहदकी ओर आया ही क्यों? धिक्कार है मेरे चञ्चलताजन्य ऐसे साहसको।'

श्रीकृष्णचन्द्रका हृदय अनुतापवश विगलित हो उठा। वे क्रमशः एक-एकका मुख देखने लगे। फिर तो हृदयका वह द्रवभाव दृगोंमें भर आया। उनके नयनसरोरुह आर्द्र हुए एवं अश्रुवारिधारा कपोलोंपर बह चली—

श्रीव्रजकुलचन्द्रमसः क्रमशः सर्वेषां मुखमभिदत्तदृशः स्तिमितीकृतनिजाधारा नेत्राम्बुधारा निपेतुः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और यह लो! जिस गोपशिशुपर, गायपर, उनकी वह अश्रुस्राविणी, नहीं-नहीं अमृतवर्षिणी, दृष्टि पड़ती जा रही है, वे सब जीवित होकर उठते जा रहे हैं।

× × × **यथाक्रमं सर्वं चेतयामासुः।**

(श्रीगोपालचम्पूः)

इसमें आश्चर्य ही क्या है? अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भले कितने ही मुग्ध वेशमें, अपने समस्त ऐश्वर्यको बाल्यावेशके अतल तलमें डुबाकर अपने स्वरूपभूत लीलारसका पान क्यों न करें, किंतु समयपर ऐश्वर्यशक्ति जाग उठेगी ही। श्रीशेष, शिव आदि योगेश्वरोंके भी ईश्वर व्रजराजनन्दनका वह अप्रतिम ऐश्वर्य ठीक अवसरपर क्रियाशील हो ही जायगा। बाल्यलीलाविहारीकी तो आँखें झर रही थीं, बालकोंको उस अवस्थामें देख-देखकर अनुताप-विह्वल हुए वे क्रन्दन कर रहे थे, किंतु उसी अश्रुपथसे उनका स्वरूपभूत ऐश्वर्य भी तो निस्सृत हो रहा था। फिर वे अनन्यगति—एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रपर ही निर्भर करनेवाली गायें, सर्वथा उनपर ही आश्रित वे गोपशिशु क्यों न पुनर्जीवन लाभ करें? उन्होंने किया ही, श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें नवजीवन प्रदान किया ही—

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५०)

अब उनकी आँखें मिलनेभरकी देर थी, बस, श्रीकृष्णचन्द्रने लपककर प्रत्येकको ही—सर्वथा एक समयमें ही एक साथ पृथक्-पृथक्—अपने भुजपाशमें बाँध लिया। प्राकृत बुद्धिमें यह शक्ति नहीं कि उसका समाधान कर दे, पर वास्तवमें यह आलिङ्गन संघटित हुआ इस रूपमें ही—

युगपदेव सर्वान् कृष्णः पृथक् पृथगेवाश्लिष्टवान्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

शिशु एवं श्रीकृष्णचन्द्रका यह मिलन भी देखने ही योग्य है—

दृष्टिर्बाष्पमिता तनुस्तिमिततामन्तर्मतिर्लीनता-
मित्थं संगतिसाधने तु निखिलेऽभीक्ष्णं गते व्यर्थताम्।
किं सौख्यं किमसौख्यमेतदिति च स्फूर्तिं विनावस्थितौ
किञ्चित्कोऽपि न किञ्चिदुज्झितुमभूच्छक्तिप्रयुक्तश्चिरम्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'उन बालकोंकी दृष्टि बाष्पधारासे अवरुद्ध हो गयी। शरीर निश्चेष्ट हो गया। अन्तश्चेतना लुप्त हो गयी। इस प्रकार मिलनेके सभी साधन जब बारम्बार व्यर्थ होते गये—यहाँतक कि उन्हें इस बातका भी

भान नहीं रहा कि यह सुखकी अवस्था है या दुःखकी। उस समय बड़ी देरतक तो कोई किसीको किञ्चिन्मात्र भी छोड़नेमें समर्थ ही न हुआ।'

और वे जब प्रकृतिस्थ हुए तब गायोंकी दशा भी निराली ही बन गयी—

गावो हुङ्कृतिघोषणावलयिताः कृष्णं लिहन्त्यश्रिरा-
त्तद्बाहुद्वयवेष्टनेन विलसत्कण्ठ्यः समुत्कण्ठिताः।
यत्नात्त्याजिततद्ग्रहाश्च पशुपैः क्षिप्ताश्च तस्थुश्चिरं
तास्तद्वक्त्रसुधाकरद्युतिसुधा पीतावतृप्तेक्षणाः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'वे गायें उच्च स्वरसे हुङ्कार करती हुई श्रीकृष्णचन्द्रको घेरकर खड़ी हो गयीं, उत्कण्ठायुक्त होकर उन्हें बड़ी देरतक चाटती रहीं। नीलसुन्दर उन्हें गलबाहीं देकर खड़े थे, इससे उनकी ग्रीवा अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। उनके पालक शिशुओंने आकर अत्यधिक प्रयास कर उन्हें श्रीकृष्णके बाहुपाशसे मुक्त किया, वे उन्हें वहाँसे हटाने लगे; किंतु गौएँ तो उनके मुखचन्द्रसे अपने अतृप्त नेत्रोंको हटा न सकीं, बड़ी देरतक ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं। उस अनुपम सुधाकरकी सुधाका पान करके भी वे तृप्त न हो सकीं।'

अस्तु, उन बालकोंके नेत्रोंमें आश्चर्य तो अब भी भरा है, अतिशय विस्मित हुए वे सब परस्पर एक-दूसरेको देख रहे हैं—

आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्।

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५१)

अवश्य ही उन सरलमति बालकोंको यह अनुमान होते देर न लगी कि वे पुनर्जीवित कैसे हो गये। विषकी ज्वालासे उनके प्राण समाप्त हो ही चुके थे, उन्हें मृत्युके इस पार तो पुनः लौटा लाये हैं उनके कन्हैया भैया ही—

अन्वमंसत तन्नाजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ५२)

सखन इहै मन आनि, मरे जिए एहि काल हम।
कृष्न-अनुग्रह जानि, मन हरषे अति प्रेम भर॥

फिर तो कन्हैया भैयाकी जय होनी ही है—

आपुस में सिसु मिलि कह्यौ, धनि धनि नंदकुमार।

नीलसुन्दरके अधरोंपर मन्द मुसकान है; किंतु उनकी दृष्टि केन्द्रित है कालियह्रदकी ओर। वे सोच रहे हैं कुछ और ही; कालियह्रदमें विहार करनेका मनोरथ निर्मित हो रहा है तथा शिशु व्यस्त हैं अपने कोटि-प्राणप्रतिम कन्नू भैयाके प्रति अपने स्नेहपूरित अन्तस्तलका आभार व्यक्त करनेमें—

प्रान बिनु हम सब भए ते, तुमहिं दियौ जिवाइ।
सूरके प्रभु! तुम जहाँ, तहँ हमहिं लेत बचाइ॥

श्रीकृष्णका कालियनागपर शासन करनेके उद्देश्यसे कालियह्रदके तटपर अवस्थित कदम्बके वृक्षपर चढ़कर वहाँसे कालियह्रदमें कूद पड़ना

नीलसुन्दरके सलोने दृगोंमें मानो कालियह्रदकी वह भयंकरता प्रतिबिम्बित हो उठी—नहीं-नहीं, चुभने-सी लगी—'अरे! यह विषपूर्ण गर्त तो एक योजन परिमित दीर्घ एवं विस्तृत है! देवगण भी इसको पार कर जायँ, यह दुस्साध्य ही है। यह अत्यन्त गम्भीर है, ह्रासवृद्धिविहीन सागरके समान ही इसका जल भी है। फिर भी जल-जन्तुओंसे, जलचर पक्षियोंसे यह शून्य है; इसकी अगाध जलराशि मेघावृत आकाश-सी प्रतीत हो रही है। इसकी तीरभूमि सर्पोंके आवासभूत अनेकों बिलोंसे पूर्ण है, इतना ही नहीं, सर्पगण इनमें निवास भी कर रहे हैं; अतएव अगम्य बन गया है यात्रियोंके लिये ह्रदका यह तट। सर्पोंके श्वाससे उद्भूत अग्निधूम इसे परिवेष्टित किये हुए है। व्रजपुरवासियोंके पशुगण इसके जलका भोग नहीं कर सकते, तृषार्त एवं जलकी आशा लेकर आनेवालोंके लिये इसका जल अपेय बन रहा है। और तो क्या, त्रिषवणार्थी (तीन बार स्नान करनेवाले) अमरवृन्दने भी इसका उपभोग करना त्याग दिया। आकाशपथसे पक्षियोंके लिये भी इसके ऊपरसे संचरण करना सम्भव नहीं है। झंझावातके झोंकोंमें उड़कर गिर जानेवाले तृण-पत्रतक इसके विषके तेजसे तत्क्षण भस्म हो जाते हैं। ह्रदके चारों ओर चार कोस भूमितलकी कैसी भीषण दुर्दशा है! किसकी सामर्थ्य है कि इस सीमामें प्रविष्ट हो जाय; सामर्थ्यशाली देवोंके लिये भी यह दुर्गम है! ओह! इस घोर विषाग्निकी ज्वालासे समस्त द्रुम, वीरुध आदि जल जो गये हैं—

दीर्घं योजनविस्तारं दुस्तरं त्रिदशैरपि।
गम्भीरमक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम्॥
तोयजैः श्वापदैस्त्यक्तं शून्यं तोयचरैः खगैः।
अगाधेनाम्भसा पूर्णं मेघपूर्णमिवाम्बरम्॥
दुःखोपसर्पतीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलैः।
विषारणिभवस्याग्नेर्धूमेन परिवेष्टितम्॥
अभोग्यं तत्पशूनां हि अपेयं च जलार्थिनाम्।
उपभोगैः परित्यक्तं सुरैस्त्रिषवणार्थिभिः॥
आकाशादप्यसंचार्यं खगैराकाशगोचरैः।
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु ज्वलन्तमिव तेजसा॥
समन्ताद्योजनं साग्रं देवैरपि दुरासदम्।
विषानलेन घोरेण ज्वालाप्रज्वलितद्रुमम्॥

(हरिवंश, विष्णुपर्व ११। ४२—४७)

अरे! देखो सही, अभी इस समय ही तपनतनयाके इस कालियह्रदका जल कैसा उबल रहा है! मानो चूल्हेपर स्थित विशाल जलपात्रका अत्युष्ण जल आलोडित एवं आवर्तित हो रहा हो! तथा ऊपरकी ओर, ओह! वह देखो, वे भूले-भटके कुछ विहंगम उड़ते हुए आये, विषजलसे स्पृष्ट वायुने उन्हें छू लिया और वे मूर्छित होकर, हाय! उस ह्रदमें ही जा गिरे। इसके परिसरमें अवस्थित स्थावर प्राणी भी जीवित रह ही कैसे सकते थे। दैवप्रेरित जंगम-मृग आदि इस ह्रदके तीरकी ओर आकर जीवित रह जायँ, यह सम्भव ही कहाँ है। बस, पवन इन विषाक्त तरंगमालाओंको स्पर्शकर, विषजलकणोंको वहन करते हुए उन्हें छू लेता है और वे जल जाते हैं, प्राणशून्य हो जाते हैं—

कालिन्द्यां कालियस्यासद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना।
श्रूयमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः॥
विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ४-५)

जमुनहिं मिल्यौ निकट ही महा।
अति अगाध ह्रद कहियै कहा॥
बिष की आगि लागि जल जरै।
उड़ते खग जहँ गिरि गिरि परैं॥
पवन रासि उठि सुठि जल लहरैं।
तिन तैं विषकी फुही जु फहरैं॥
इक जोजन के थिर-चर जंत।

जरि-जरि, मरि मरि गए अनंत॥
जो बृंदाबन योग्य न हुते।
ते तब बिष-जल-ज्वाला हुते॥

× × ×

जमुन धार कहँ तजहिं अगम दह भरिब धनुष सत।
तहँ अहि करहिं प्रबास कोह काली दुर्मद मत॥
लहरि लोल मिलि अनिल चलत, जब तपतु सकल बन।
उठति बिसम बिस ज्वाल जरत नभ उड़त बिहगगन॥
तट निकट बिटप झौंके जहर, झार-भार नहिं सहि सकत।
इहि भाँत अमित उतपात लखि जगत-तात कूदन तकत॥

किंतु साथ ही ऐसे सूने निरानन्द कालियह्रदके तटपर भी वह एक कदम्बतरु अवस्थित अवश्य है तथा उसकी निराली हरितिमा भी व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें समा जाती है। ओह! उसकी शत-शत सुन्दर शाखाएँ—कभी एक क्षणके लिये भी इस विषम विषकी ज्वालासे म्लान नहीं हुईं, उसका एक पल्लव भी झुलस न सका। यह तरुराज निरन्तर एक पुण्यसौरभका संचार करता रहता है, व्रजपुरवासी दूरसे उसका घ्राण पाकर हर्षित होते हैं। इतना ही नहीं, कालके नियमोंका सर्वथा अतिक्रमण कर वह सदा एकरस मनोज्ञ एवं सुखशीतल बना रहता है। पावस, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त-ग्रीष्म—इन सब ऋतुओंमें ही, बारहों मास निरन्तर उसके अङ्ग पुष्पभारसे नमित रहते हैं, सदा ही वह कुसुमित रहता है एवं उसकी शोभासे दसों दिशाएँ उद्भासित रहती हैं; किंतु ऐसी असम्भावित घटना क्यों? अत्यन्त घोर विषकी इस तरुके प्रति ऐसी प्रभावहीनता कैसे? बस, इसीलिये कि यह बड़भागी कदम्ब तरुराज श्रीकृष्णचन्द्रके भावी चरण-सरोज-स्पर्शकी परम पुनीत प्रतीक्षामें जो अवस्थित है; व्रजराजनन्दनके नलिन-सुन्दर श्रीचरणोंका स्पर्श उसे भविष्यमें प्राप्त होगा, इस अप्रतिम सौभाग्यसे वह विभूषित है—

भाविना श्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन स एकस्तत्तीरे न शुष्कः।
(भावार्थदीपिका)

ऐसी ही है श्रीकृष्णचरणस्पर्शकी महिमा! यह स्पर्श प्राप्त हो, फिर तो कहना ही क्या है; किसीके लिये केवलमात्र यह सौभाग्य निर्धारित ही हो जाय, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपाशक्ति भविष्यमें, सहस्र-सहस्र युगसमूह व्यतीत होनेके अनन्तर भी यदि किसीके लिये ऐसे परम सुदुर्लभ संयोगका विधानमात्र कर दे तो इससे अधिक जीवनकी कृतार्थता और है ही क्या। व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्तिके कटाक्षकोरमें एक अद्भुत अनादि अनन्त लीलोपकरणसूचिका सुरक्षित रहती है। उसमें यह कदम्बतरु भी स्थान पाये हुए है। सुदूर भविष्यमें, अमुक द्वापरके अन्तमें व्रजेन्द्रनन्दन अपने बाल्यावेशकी मौजमें इस कदम्बपर आरोहण करेंगे और पश्चात् इसीपरसे ही कालियदमनकी लीला संघटित करनेके लिये कलिन्दनन्दिनीके उस विषमय ह्रदमें कूद पड़ेंगे—यह विवरण इस तरुराजके लिये अङ्कित है। फिर कालियका विष इसका कभी कुछ भी बिगाड़ कर सके, यह तो असम्भव है। भला, जिन व्रजेन्द्रनन्दनका एक नाम जिह्वाग्रपर उपस्थित होनेमात्रसे, कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होनेभरसे, उनके त्रिभुवनमनोहर रूपकी एक काल्पनिक आभा भी मानसतलपर उदय होनेमात्रसे, परिस्थितिविवश हुए आकुल प्राणोंकी सर्वथा असहाय अवस्थामें एक बार 'नाथ! मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार मन-ही-मन जिनके शीतल शंतम चरणसरोरुहकी शरण ग्रहण कर लेनेसे—संक्षेपमें कहनेपर अचिन्त्य सौभाग्यवश, उनके नाम-रूप-लीला-गुण आदिके सम्पर्कमें किसी प्रकार चले आनेमात्रसे जब संसार-सर्प-विषकी ज्वाला सदाके लिये शान्त हो जाती है, तब फिर जिसे व्रजराजनन्दन अपने श्रीचरणोंसे स्वयं स्पर्श करेंगे, उसका कालियके विषकी ज्वाला क्या कर सकती है!

या पर कृष्न-चरन परसिहैं।
इहि चढ़ि या दुहूहि करसिहैं॥
भावी जा कदंब की ऐसैं।
बिष-जल परसि सकै तिहि कैसैं॥

इसीलिये यह कदम्ब-तरुवर विषकी कराल शिखाओंसे निरन्तर परिवेष्टित रहकर भी सर्वथा अक्षत बना है, अपने अन्तस्तलमें नित्य नवीन उल्लास लिये निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित रहता है। न जाने कबसे यह कदम्ब पल्लवोंका शृङ्गार धारणकर, अपने कुसुमरूप

नयनोंके पाँवड़े बिछाकर नीलसुन्दरका आवाहन कर रहा है—'आओ मेरे देवता! मेरे चिरजीवनकी अभिलाषा पूर्ण हो।'

इसके अतिरिक्त इसका एक और भी समाधान है कि इस कदम्बको कालियकी विषाग्नि क्यों नहीं जला सकी। और नीलसुन्दर तो इस समाधानको ही अपने बाल्यावेशसे निस्सृत लीलारस-तरङ्गिणीमें स्थान देंगे। शालीनता गुणका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन यदि पुरुषोत्तम प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रमें व्यक्त न हो तो और कहाँ हो? वे भला इस निराविल लीलारससिन्धुमें अवगाहन करते हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको सर्वथा पीछे रखकर, डुबोकर एक अभिनव मुग्धताके साजसे सज्जित हुए जब इसकी रसमयी ऊर्मियोंका आस्वादन ले रहे हैं, अपने स्वजनोंको स्वरूपभूत परम आनन्दका दान कर रहे हैं, उस समय अपने चरणस्पर्शकी महिमाको अपने ही श्रीमुखकी वाणीद्वारा इस कदम्बके साथ सम्बद्ध करें—यह भी कभी सम्भव है? अतएव वे तो इस दूसरे समाधानको ही उस अवसरपर महत्त्व देंगे तथा लीलारङ्गमञ्चपर झूलता हुआ आवरण-पट इस सूत्रके सहारे ही सरककर दूसरे दृश्यकी अवतारणा करेगा। जो हो, वह समाधान यह है—'उस दिन जब कि स्वर्गके देवगण पराजित हो चुके थे तथा विजेता पक्षिराज गरुड़ अमृतभाण्ड लेकर नागलोककी ओर अग्रसर हो रहे थे, उस समय—उस अमृतकलशके साथ ही—वे इस कदम्बतरुकी शाखापर क्षणभरके लिये अन्तःप्रेरित-से हुए जा विराजे थे, क्षणिक विश्राम-सा किया था उन्होंने इस वृक्षपर। तथा इस प्रकार अमृत-स्पर्शसे उस कदम्बने अमरत्व लाभ कर लिया और इसीलिये कालियविषकी अग्निसे उसकी किञ्चिन्मात्र भी क्षति न हो सकी।'—

अमृतमाहरता गरुत्मता क्रान्तत्वादिति च पुराणान्तरम्।

(भावार्थदीपिका)

अस्तु, गोपशिशुओंके द्वारा प्रशंसा-गीतका विराम होते-न-होते—और कुछ भी लीला होनेसे पूर्व ही—श्रीकृष्णचन्द्रने कालियह्रदकी ऐसी भयावह परिस्थितिपर एवं साथ ही आकुल प्रतीक्षामें अवस्थित उस सुन्दर मनोहर कदम्बतरुपर अपनी कृपाभरी दृष्टि डाल ही दी—नहीं-नहीं, उनकी ऐश्वर्यशक्तिने ही अवसर देखकर अपनी विनम्र सेवा समर्पित करनेकी भावनासे नीलसुन्दरके नेत्र उसकी ओर फेर दिये। फिर तो तत्क्षण ही उनके हृत्तलके स्रोत कुछ क्षणोंके लिये ऐश्वर्यसंवलित हो उठे, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अन्तस्तलमें अब यह झंकृति होने लग गयी—

एतदर्थं च वासोऽयं व्रजेऽस्मिन् गोपजन्म च।
आमीषामुत्पथस्थानां निग्रहार्थं दुरात्मनाम्॥
एनं क्रदम्बमारुह्य तदेव शिशुलीलया।
विनिपत्य ह्रदे घोरे दमयिष्यामि कालियम्॥

(हरिवंश, विष्णुपर्व ११। ५८-५९)

'इसी उद्देश्यसे तो इस व्रजमें मेरी यह प्रकट लीला है, मैंने गोपजन्म स्वीकार किया है कि इन कुमार्गगामी दुरात्माओंका निग्रह करूँ। बस, ठीक है; शिशुलीलाके आवेशमें ही मैं इस कदम्बपर चढ़ जाऊँगा और फिर इस कालियह्रदमें कूदकर कालियसर्पका दमन करूँगा।'

बस, ऐश्वर्यशक्तिकी इतनी-सी सेवा ही नीलसुन्दरने इस समय स्वीकार की और फिर पूर्वकी भाँति ही वे सरस ऊर्मियोंमें बह चले। लीलाविहारी व्रजराजदुलारेका यही स्वभाव है। उनकी नित्यसहचरी ऐश्वर्यशक्ति अपने-आपको आवृत रखकर जो-जो सेवाएँ समर्पित करती हैं, उन्हें तो वे स्वीकार करते हैं; किंतु व्यक्तरूपसे वे नीलसुन्दरके हृत्तलको बार-बार स्पर्श करती रहें, यह सम्भव नहीं है। अपने विश्वविमोहन, मुग्ध, रसमय लीलाप्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रको ऐश्वर्यका सम्मिश्रण अभिप्रेत जो नहीं है। इसीलिये वृन्दावनविहारी उपर्युक्त ऐश्वर्यमय चिन्तनको तत्क्षण विराम देकर पहलेकी भाँति ही अपने बाल्यावेशकी तरंगोंसे उच्छलित लीलासिन्धुमें डूबने-उतराने लगे। अवश्य ही इसकी लोल लहरें उन्हें अतिशय वेगसे बहाये लिये जा रही हैं कालियदमनलीलाकी ओर ही। वे अगणित सखा भी उनके पीछे बहते जा रहे हैं। साथ ही उन शिशुओंका उत्साह भी प्रतिक्षण नवीन होता जा रहा है। कदाचित् वे सरलमति बालक जानते होते, अपने कन्हैया भैयाकी भावी योजनाका आभास भी उन्हें प्राप्त हो जाता, फिर तो उनकी वह उमंग तत्क्षण समाप्त हो जाती, वे अपने प्राणप्रिय कन्हूको एक पग भी उस ओर बढ़ने नहीं देते, किंतु

वे जानें कैसे, श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चितवनकी ओटमें ऐसे समस्त अवसरोंपर ही अचिन्त्यलीला-महाशक्तिका अञ्चल स्पन्दित जो होने लगता है; इसी स्पन्दनके बयारसे उनके ज्ञानकी परमोज्ज्वल आलोकशिखा सचमुच झिलमिल करने लगती है और इसीलिये वे वस्तुस्थितिको देखकर भी नहीं देख पाते। इसके अतिरिक्त अपने कन्नू भैयाके किसी प्रस्तावका समर्थन वे न करें—यह तो उन्होंने सीखा ही नहीं। अपने प्राणोंका समस्त उत्साह लेकर वे सदा ही नीलसुन्दरकी प्रत्येक इच्छाका अनुसरण करते हैं। इसीलिये आज भी इस कालियह्रदके विषमय तटपर, अभी-अभी इस विषके प्रभावसे मृत्युके उस पार जाकर लौट आनेपर भी उन्हें कोई भय नहीं है; अपितु प्रत्येक शिशु ही मन-ही-मन कुछ-न-कुछ नवीन मनोरथका निर्माण कर रहा है, सबकी आँखोंमें एक पवित्रतम सरल उत्कण्ठा भरी है—'देखें! अब मेरा कन्नू क्या कहता है, क्या करता है!'

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर नित्य विराजित स्मितकी आभा किञ्चित् बदली; वे तनिक गम्भीर-से दीखे! किंतु पुनः निमेष गिरते-न-गिरते उनके नेत्र पहलेसे भी अधिक चञ्चल हो उठे। दक्षिण भुजा कालियह्रदकी ओर केन्द्रित हो गयी तथा तर्जनीसे कालियनागके उस आवासकी ओर संकेत करते हुए नीलसुन्दरने कहना प्रारम्भ किया। स्वरमें एक अभिनव गम्भीरताका पुट अवश्य है, पर बाल्यावेशकी सरलता, वीणाविनिन्दित स्वरकी सरसता भी निरन्तर झर ही रही है और वे मानो एक श्वासमें ही इतनी बातें कह गये—

अहो वयस्याः! पश्यथ अत्रोदकस्तम्भ-विद्याकृतावकाशप्रकाशपानह्रदिनीह्रदस्थितस्वसदने कालियाख्यमन्द दंदशूकस्तिष्ठति। तेन च दुष्टनिष्ठयतया सर्व एवाखर्बविषज्वालया ज्वलिताः पर्य्यन्तदेशा दृश्यन्ते। उपर्य्युपरि उत्पतिताः पतत्रिणश्चात्र पतिता इत्यात्मनेत्राभ्यां प्रतीयताम्। येभ्यस्तु प्राणा जगत् प्राणाशनभयतः सद्य एव विप्रतिपद्येव स्वयमुत्पतन्तः कदापि न व्यवर्त्तन्त। सोऽयं पुनर्गरुतमत्कृतामृतसेक एक एव कालकूटज्वालयापि कृतालम्बः कदम्बः सुललितदलादितया लालसीति। तस्मादस्योपरिग-कोटरपिठरे स्फुटं तदनवद्यममृतमद्यापि विद्यत इति प्रसह्याहमारुह्य पश्यानि। भवन्तस्तु गाः किञ्चिद्दूरचरतया चारयन्तश्चरन्तु।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे भैयाओ! देखो तो सही, यहाँ चमचम करती हुई यमुनाके वक्षःस्थलसे सटे हुए ह्रदमें एक बहुत बड़ा सर्प रहता है हो! महादुष्ट है वह। उसका नाम कालिय है। इतना ही नहीं, वह जलस्तम्भनविद्या जानता है। उस विद्याके प्रभावसे उसने जलमें ही स्थान बना लिया और फिर इस ह्रदमें गृहका निर्माण कर निवास करने लगा है। और सुनो, इसकी फुफकार इतनी दूषित है, इसकी फुफकारसे ऐसी एवं इतनी अधिक भयंकर विषज्वाला निकलती है कि चारों ओरकी भूमि झुलस गयी, जल गयी है। सचमुच, सब ओरकी पृथ्वी जली हुई प्रतीत हो रही है। और यह तो अपनी आँखोंसे अभी-अभी प्रत्यक्ष देख लो, ऊपर ऊँचे आकाशमें उड़ते हुए पक्षी सब-के-सब इस ह्रदमें गिर पड़े। हाय! इन पक्षियोंके प्राण इस सर्पके भयसे इन्हें छोड़कर ऐसे उड़ गये मानो इनका इनसे मेल है ही नहीं, परस्पर विरोध हो गया है—सब-के-सब पक्षी बेचारे मर ही गये। इनके प्राण (तुम्हारी भाँति) लौटनेके नहीं। किंतु भैयाओ! अरे देखो, यह अकेला कदम्ब ही ज्यों-का-त्यों बना है हो! इस सर्पकी कालकूट-ज्वालाके सम्पर्कमें भी यह अपने-आपको धारण किये हुए है—यही नहीं, अत्यन्त सुन्दर पल्लव आदिसे विभूषित रहकर अतिशय चमक रहा है। इसका कारण बताऊँ? अच्छा सुनो, गरुड़ जब अमृत लिये जा रहे थे, उस समय इसपर भी अमृतके छींटे पड़ गये थे। और सुनो, भैयाओ! मुझे स्पष्ट ही ऐसा लगता है कि उसी कारणसे आज भी इस वृक्षके ऊपरके कोटरमें वह विशुद्ध अमृत सुरक्षित पड़ा है। मेरी तो इच्छा है कि साहसपूर्वक मैं इस कदम्बपर चढ़ जाऊँ और देखूँ तो सही कि वहाँ उस कोटरमें सचमुच अमृत है या नहीं। हाँ, तुम सब यहाँसे किञ्चित् दूर हटकर गोचारण करते हुए विचरो!'

श्रीकृष्णचन्द्र इतना कह लेनेके अनन्तर अपने सखाओंकी ओर देखने लगे। प्रत्येक शिशुने ही देखा, ठीक ऐसी ही अनुभूति उसे हुई—'मेरा कोटिप्राणप्रिय कन्नू केवल मेरी ही आँखोंमें अपनी आँखें मिलाकर मेरी

अनुमति चाह रहा है!' सचमुच मानो स्नेहकी शत-सहस्र स्रोतनियाँ नीलसुन्दरके इन दृगोंसे एक साथ प्रसरित हो रही हों, ऐसी स्नेहपूरित दृष्टिसे वे उन शिशुओंकी सम्मति माँग रहे हैं। किंतु उन बालकोंका हृदय—न जाने क्यों—आज भर आया। क्षणभर पूर्वका वह अप्रतिम उल्लास भी सहसा, न जाने कैसे, सर्वथा प्रशमित हो गया! वे कुछ बोलने चले, पर इतनेमें तो उनके नेत्र भी छल-छल करने लगे? व्रजेन्द्रनन्दनने उन्हें दूर हटकर गोचारण करनेकी बात कह दी—इस हेतुसे यह बात हुई क्या? नहीं-नहीं, यह तो कितनी बार हो चुका है। आज तो बिना किसी प्रत्यक्ष कारणके ही उनके हृदयका बाँध ही टूटा-सा जा रहा था। पर, इधर नीलसुन्दरको भी अब अत्यधिक त्वरा है। यह कहना सम्भव नहीं कि उन शिशुओंने उन्हें मूक सम्मति दी या असम्मति प्रकट की; क्योंकि सहसा व्रजेन्द्रनन्दन उनकी ओर देखना स्थगितकर कदम्बतरुकी ओर देखने लग गये। साथ ही उनके अधरपल्लव भी उनकी शुभ्र दशनकान्तिसे उद्भासित हो उठे तथा सर्वत्र एक विचित्र मनोहर हास्य गूँज उठा और फिर नादित होने लगी उनकी यह रहस्यपूर्ण अभय वाणी—'भैयाओ! डरना मत, डरना मत; मेरे लिये शोक मत करना, भला! अच्छा, दूर मत जाओ। यहीं—इस स्थानपर ही गायोंको सँभालनेकी दृष्टिसे स्थित रहना।'

मा भेतव्यं मा भेतव्यमिहैव धेनुसम्भालनया स्थातव्यमिति हसितसितदशनरुचिरुचिराधरमाभाष्य।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, अपलक दृष्टिसे वे शिशु देखते ही रहे तथा श्रीकृष्णचन्द्र दौड़कर कदम्बके समीप जा पहुँचे। अत्यन्त शीघ्रतासे उन्होंने कटिवस्त्रको समेटकर दृढ़तापूर्वक बाँधा। यह बिखरी हुई अलकावलि भी चटपट सहेज ली—

किंकिनि सौं कटि-पटहि लपेटि।
कुटिल अलक मुकुट मैं समेटि॥

फिर दाहिने करतलसे वाम भुजाको ठोककर उन्होंने उस कदम्ब तरुपर चढ़ना आरम्भ किया, अरे नहीं, वह देखो—वे तरुके ऊपरकी सर्वोच्च शाखापर जा विराजे। ओह! इस समयका उनका वह उत्साह! वह अप्रतिम सौन्दर्य! बस, कहना ही क्या है—

चट दै जिहि कदंब पर चढ़े।
छाजत ता छिन अति छबि बढ़े॥
× × ×
खेलहिं प्रभु नाँध्यौ, कसि पटु बाँध्यौ,
हरि हर बर करि कदम चढ़े।
ठोकनि भुजदंडनि लीला मंडनि
अति उर उमगि उछाह बढ़े॥

मानो, इस समय अपने मत्स्य-कूर्म आदि स्वरूपोंसे अवतरित होनेकी घटना, उन-उन दुष्टोंके दमनकी बात, खलनिग्रहकी अपनी प्रवृत्ति—इन सबका श्रीकृष्णचन्द्रको स्मरण हो आया हो और वे उन भावोंसे भावित हो उठे हों—इस प्रकार उनकी दृष्टि नीचे अवस्थित कालियह्रदपर पड़ी, नहीं-नहीं स्वयं कालियपर ही पड़ी; तथा फिर क्षणार्धका सहस्रांशमात्र बीतनेसे कालियके अत्युग्र विषमय प्रभाव—पराक्रमकी समीक्षा करके लौट भी आयी। श्रीकृष्णचन्द्र अर्द्धनिमीलित नयनोंसे अब कलिन्दनन्दिनीके सुदूर कल-कल प्रवाहकी ओर देखने लगे। उन्होंने स्पष्ट देख लिया—केवल तीरभूमि ही नहीं, तपनतनयाका वह मञ्जुल प्रवाह भी कितने बृहत् अंशमें इस कालियने विषदूषित कर दिया है! अनन्त करुणार्णव व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र फिर विलम्ब क्यों करें! कदम्बकी वह तुङ्ग शाखा अतिशय वेगसे कम्पित हुई और नीलसुन्दर उस विषमय ह्रदमें ही कूद पड़े—

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।
कृष्ण कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे॥

(श्रीमद्भा १०। १६। ६)

जिहि जल छुवत जात जन जरे।
तिहि जल कुँवर कूदि ही परे॥

श्रीकृष्णका कालियके शयनागारमें प्रवेश और नागवधुओंसे उसे जगानेकी प्रेरणा करना; नागपत्नियोंका बालकृष्णके लिये भयभीत होना और उन्हें हटानेकी चेष्टा करना

मानो ऊँचे आकाशमें उड़ता हुआ अत्यन्त वेगशील मत्स्यरङ्क (मछरलोका) पक्षी जलके अन्तरालमें संतरण करते हुए अपने लक्ष्यभूत मत्स्यको देख ले तथा उसे अपनी चोंचमें भर लेनेके उद्देश्यसे झपसे कूद पड़े — इसी प्रकार सर्वथा भयशून्य होकर श्रीकृष्णचन्द्र कदम्बतरुकी तुङ्गशाखासे उछलकर नीचे—कालियह्रदके जलमें समा गये—

दूरतरमुड्डीय झषं जिघृक्षन्नतितरस्वी मत्स्यरङ्क इव तरसा रसादम्भसि निपपात।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

साथ ही ह्रदके ऊपर चारों ओर चार सौ हाथतक विषमय जलका प्रवाह बह चला। एक तो पहलेसे ही वहाँ, उस जलराशिमें कालियविषजनित लाल-लाल, पीली-पीली-सी विविध वर्णोंकी ऊँची लहरें उठ रही थीं, सब ओरसे वह ह्रद अपने-आप क्षुब्ध हो ही रहा था और फिर उसपर अतिशय वेगसे कूद पड़े परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र! अतः ऊपर और भी चार सौ हाथ परिमित स्थानमें सहसा जल फैल जाय, उनके पतनके वेगसे जल इतना उछल जाय—इसमें आश्चर्य ही क्या है। बाल्यलीलाविहारी जिस समय व्रजेन्द्रगेहिनीके अङ्कमें विराजित होते हैं, सखाओंकी मनोहर क्रीडामें योगदान करते हुए किसी शिशुके स्कन्धपर आरोहण करते हैं, उस समय उनका वह महामरकत-नील कलेवर अतिशय सुकोमल कुसुमदलोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त मृदुल, मृदुलतर रहता है; एक लघु तूलपुञ्जमें जितना भार होता है, उससे भी कम भार नीलसुन्दरके श्रीविग्रहमें प्रतीत होता है। पर वे ही श्यामल-कोमल स्निग्ध लघुभारसमन्वित श्रीअङ्ग जब असुरोंके सम्पर्कमें आते हैं, व्रजराजनन्दनकी जब असुरदमनलीला आरम्भ होती है, तब फिर तो, देखनेमें ज्यों-के-त्यों रहनेपर भी, उन्हीं अवयवोंके अन्तरालमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी गुरुता, कोटि-कोटि वज्रसारकी रूक्षता भी व्यक्त हो ही जाती है। अनन्त-बलनिधान व्रजराजतनयका बल यथापेक्षित रूपमें प्रकाशित होकर ही रहता है। उनकी अपरिसीम ऐश्वर्यशक्ति आवश्यक मात्रामें क्रियाशील हुए बिना नहीं रहती। यहाँ भी जब लीलाविहारी कालियदमनलीलाकी अवतारणा करने चले हैं, तब तदनुरूप ही मङ्गलाचरण भी होना ही चाहिये। इसीलिये जल उनके कूदनेसे इतनी दूर उछल आया है। इसमें कुछ भी नवीनता नहीं। अपितु विस्मययोग्य यदि कुछ है तो यह है कि अनन्त-ब्रह्माण्डभाण्डोदरके अतिशय वेगसे कूदनेपर भी जल इतना-सा ही प्रसरित हुआ! सो भी बाह्यदृष्टिसे ही! अन्यथा स्पष्ट इसका समाधान दीख रहा है—वह देखो, इधर तो वे असंख्य गोपशिशु विस्फारित-नेत्र हुए अपने कोटि-कोटि प्राणधन नीलसुन्दरकी ओर देख रहे हैं, उनकी पङ्क्तियाँ खड़ी हैं, उन्होंने सीमा जो बाँध दी है। उनके पार तो क्या, उन्हें भी यह विषोर्मि स्पर्श नहीं कर सकती; उनके इस ओर ही कुछ हाथ दूर रहकर ही, स्थलपर लोट रही है—नहीं-नहीं कालियकी भावी विकलताकी मानो सूचना दे रही है। तथा उस ओर कालिन्दकन्याका मञ्जुल प्रवाह है, वह अब क्षणभरके लिये भी इससे अधिक सीमामें विषसिक्त क्यों हो! यह चार सौ हाथका विषप्लावन भी हुआ है उद्देश्यविशेषसे ही; यह तो आवश्यक है। उन विचरण करती हुई कालिय-पत्नियोंको श्रीकृष्णचन्द्र इसी मिससे एकत्र जो कर लेना चाहते हैं। इन नागवधुओंके हृदयमें अपने अनन्त ऐश्वर्य, अपनी सम्पूर्ण भगवत्ताकी भावना उदय हो जानेसे पूर्व वे उन्हें विशुद्ध लीलारसका दान देना चाहते हैं। महामहेश्वर व्रजराजनन्दनकी मुग्धता-सम्मुटित भङ्गिमाओंका रस—सुख निराला ही होता है। अतिशय महान् भाग्यशाली कतिपय जन ही एकमात्र उनकी कृपासे इसकी कदाचित् कोई झाँकी पाकर कृतार्थ होते हैं। अत्यन्त क्रूरहृदय कालिय तो इसका

सर्वथा अनधिकारी है, उसका तो यह सौभाग्य ही नहीं कि वह अनन्तैश्वर्यनिकेतन गोकुलेन्द्रनन्दनके ऐश्वर्य-विहीन मधुर बाल्यलीला-रसका आस्वादन ले सके। हाँ, उन नागवधुओंके अन्तस्तलमें एक ऐसी चिरसञ्चित लालसा अवश्य है और उसके पूर्ण होनेका अवसर भी उपस्थित है। अतएव नागमन्थन होनेसे पूर्व भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र पहले उनका ही मनोरथ पूर्ण करने चलते हैं। और इसीलिये अकस्मात् ह्रदमें एक विशाल हिण्डन उत्पन्नकर, इसके द्वारा 'कालिय (उनका पति) निद्रासे जाग उठा है' यह भ्रम उत्पन्नकर उन्हें अपने पतिके शयनागारमें ही बुला लेनेके उद्देश्यसे यह जल इतना आलोडित कर दिया गया है—

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
संक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्यक् प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मि-
र्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ७)

बल अनंत है जासु, त्रिभुवन पति भगवंत हरि।
अचरज अहै न तासु, सत धनु जल गौ चारि दिसि॥

× × ×

बर बारन ज्यौं जल में धसैं।
सत-सत धनु चहुँ दिसि पय पसरै॥

अस्तु, क्षण भी न लगा, श्रीकृष्णचन्द्र कालियके उस शयनगृहमें जा पहुँचे। नागवधुओंकी दृष्टि भी उनके श्यामलकोमल श्रीअङ्गोंपर जा पड़ी! फिर तो ऐसे सौन्दर्यनिधि शिशुको देखकर वे कुछ क्षणोंके लिये हतप्रभ हो गयीं। सुन्दरता तो उन वधुओंके अङ्गोंसे भी झरती थी, अपने रूपका उन्हें गर्व भी था, स्वर्बालाएँ अपनी तुलनामें उन्हें हेय प्रतीत होती थीं; किंतु नीलसुन्दरके विश्वविमोहन सौन्दर्यके दर्शन तो उन्हें आज ही हुए हैं! अपलक नेत्रोंसे वे इस त्रैलोक्य-मनोरम रूपको देख रही थीं, किंतु देखते-देखते ही सहसा उनके प्राण स्पन्दित होने लग गये—'हाय रे! इस बालकका भविष्य! क्रूर पतिके सम्पर्कमें इस अप्रतिम सुन्दर शिशुकी क्या दशा होगी?'—

अति कोमल तनु धरयौ कन्हाई।
गए तहाँ, जहँ काली सोवत, उरग-नारि देखत अकुलाईं॥

उन नागवधुओंका हृदय भर आया। सौन्दर्यका आकर्षण तो उन्हें बाध्य कर रहा था नीलसुन्दरका परिचय प्राप्त कर लेनेके लिये; गद्गद, पर अतिशय धीमे कण्ठसे एक प्रश्न उन सबोंने श्रीकृष्णचन्द्रसे कर भी दिया; किंतु उत्तर पानेका धैर्य वे न रख सकीं! अपनी कल्पनाके अनुसार इस सुन्दर बालककी आसन्न दुरवस्थाका चित्र उनकी आँखोंमें नाच उठा। आतुर होकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको उस स्थानसे शीघ्रातिशीघ्र भाग जानेके लिये संकेत करने लगीं, स्पष्टरूपसे कह भी बैठीं—

कह्यौ—कौन कौ बालक है तू, बार-बार कहि, भागि न जाई।
छनकहि मैं जरि भस्म होइगौ, जब देखै उठि जाग जम्हाई॥

किंतु श्रीकृष्णचन्द्र तो भागना दूर, हँस रहे हैं। हँस-हँसकर कह रहे हैं—

उरग-नारि की बानी सुनि कै, आपु हँसे मन में मुसुकाई।
मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याकौं अब देहि जगाई॥

लीलासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अनादि-अनन्त लीलाओंमें किसी एक लीलाका भी—उसके किसी स्वल्पतम अंशका भी 'अथ'-'इति' निर्देश कर देना, यहाँ इसका आरम्भ है, यहाँ इसकी परिसमाप्ति हुई,—इस प्रकार इत्थम्भूतरूप निर्धारित कर देना आजतक किसीके लिये भी सम्भव नहीं हुआ, अनन्त कालतक किसीके लिये होगा भी नहीं। इस अपरिसीम सिन्धुमें कहाँ किस समय कौन-सी ऊर्मि उठी, कहाँ कितने कालके अनन्तर वह विलीन हुई—यह आजतक किसीने नहीं जाना। वहाँ, उनके स्वरूपभूत वृन्दाकाननमें प्राकृत अवच्छेद नहीं, प्राकृत कालमान नहीं। लीला-निर्वाहके लिये वहाँ सब कुछ वस्तुएँ एवं अभिनव प्रतीयमान काल-नियन्त्रण है अवश्य; पर वे सब-के-सब सर्वथा सच्चिदानन्दमय हैं—इन्हीं शब्दोंमें यत्किञ्चित् उस अप्राकृत सत्ताको हम शाखाचन्द्रन्यायसे हृदयंगम कर सकें तो भले कर लें। अन्यथा सर्वथा अनिर्वचनीय, अचिन्त्य है वह। इसीलिये किसी भी लीलाका ओर-छोर पा लेना सम्भव नहीं। व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्ति